भा० दि० जैन संघ पुस्तक मालाका नौवां पुष्प

भगवान ऋषभदेव

लेखक
'जैन धर्म' आदिके लेखक
श्री पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री
आचार्य
श्री स्याद्वाद महाविद्यालय, काशी

प्रकाशक
भारतवर्षीय दिगम्बर जैन संघ

प्रकाशक
मंत्री साहित्य विभाग
भा० दि० जैन संघ
चौरासी, मथुरा

प्रथम वार
पौष २४७९
मूल्य, एक रुपया चार आना

मुद्रक—
शिवनारायण उपाध्याय बी० ए०
नया संसार प्रेस,
भदैनी, काशी।

प्राक्कथन

सब जैन सम्प्रदाय तथा जैन शास्त्र इस विषयमें एकमत हैं कि जैन धर्मके आद्य प्रवर्तक भगवान ऋषभदेव और अन्तिम प्रवर्तक भगवान महावीर थे। जैनोंकी इस मान्यताका समर्थन बौद्ध साहित्य तथा हिन्दू पुराणोंसे तो होता ही है, ऐतिहासिक अभिलेख भी इसके समर्थक हैं। मथुराके कङ्काली टीलेसे जो शिलालेख प्राप्त हुए हैं वे करीब दो हजार वर्ष प्राचीन हैं। उनपर राजा कनिष्क हुविष्क और वासुदेवका सम्वत है। उनमें भगवान ऋषभदेवकी पूजाके लिये दान देनेका उल्लेख है। अस्तु,

ऋषभदेवका जीवन चरित जैनाचार्य जिनसेनने महापुराण नामक महा ग्रन्थमें बहुत विस्तारसे लिखा है। प्रत्येक व्यक्तिके लिए उसकी स्वाध्याय कर सकना शक्य नहीं है। मैंने भी उसकी आद्योपान्त स्वाध्याय अभीतक नहीं की थी। उस महापुराणका एक नवीन संस्करण पं० पन्नालाल साहित्याचार्यकी हिन्दी टीकाके साथ भारतीय ज्ञानपीठ काशीसे प्रकाशित हुआ है। समालोचनार्थ प्राप्त होनेपर मैंने उसका स्वाध्याय किया। और मेरे मनमें चिरकालका यह संस्कार जागृत हो उठा कि इस महाग्रन्थके आधारसे भगवान ऋषभदेवका जीवन चरित संकलित किया जाये, जो सर्व साधारणके लिए सुगम और सुलभ हो। अपने उसी संस्कारवश मैंने इस अपनी गागरमें उस सागरको भरने-का प्रयत्न किया है।

इसमें सन्देह नहीं कि आचार्य जिनसेन महाकवि होनेके साथ ही साथ बडे भारी लोकद्रष्टा महापुरुष थे। उन्होंने अपने महापुराणकी रचना ईसाकी नवमी शतीके पूर्वार्द्धमें की थी। यह उनकी अन्तिम

रचना थी, जिसे वे असम्पूर्ण ही छोड़कर लगभग ९० वर्षकी आयुमें स्वर्गवासी हुए। उनके पश्चात् उनके शिष्य गुणभद्रने उसे पूरा किया। अतः महापुराण उनके सुदीर्घ जीवनकी साधनाका निचोड़ है। किन्तु इस महाग्रन्थमें वर्ण व्यवस्थाको लेकर कुछ ऐसी बातें भी आ गई हैं, जिन्हें कतिपय विद्वान सन्देहकी दृष्टिसे देखते हैं।

मेरी दृष्टिसे जैनधर्मको वर्ण व्यवस्था तो मान्य है क्योंकि त्रिलोक-प्रज्ञप्ति जैसे करणानुयोगके ग्रन्थोंमें भी क्षत्रिय वैश्य और शूद्र ये तीन वर्ण कर्मभूमिमें माने गये है। कर्मभूमिमें असि, मषि, कृषि, वाणिज्य, विद्या और शिल्प इन छै कर्मो से तीनों वर्णोंके लोग आजीविका करते हैं। सम्भवतः प्रत्येक वर्णके लिए दो दो कर्म निश्चित होंगे, अर्थात् असि और मषिसे आजीविका करनेवाले क्षत्रिय, कृषि और वाणिज्य-से आजीविका करनेवाले वैश्य और विद्या तथा शिल्पसे आजीविका करनेवाले शूद्र कहे जाते थे। अथवा यह कहना चाहिये कि इन इन वर्णोंकी यह आजीविका निश्चित थी और एक वर्ण दूसरे वर्णकी आजीविका नहीं कर सकता था। देशकी व्यवस्था बनाये रखनेके लिये ऐसा बन्धन होना भी जरूरी था। प्रारम्भमें इस बन्धन-में कोई उच्चता और नीचताकी भावना नहीं थी, किन्तु युगके आरम्भ-में जब सब लोगोंके सामने जीवन निर्वाहका प्रश्न उपस्थित था तब ऐसी स्थायी व्यवस्था करना आवश्यक था, जिससे लोगोंकी आजीविका चलनेके साथ ही साथ उनकी सन्तानके लिए भी आजीविका सुनिश्चित हो जाये और समाज व्यवस्थामे भी सुकरता हो सके। जब लोगोंने भगवानके आदेशानुसार आजीविकाका साधन अपना लिया और उनके वंशमें उसी कर्मसे आजीविका होने लगी तो उनके वंशका वही वर्ण निश्चित हो गया। अतः प्रारम्भमे जो वर्ण व्यवस्था आजीविकाके आधारपर नियत की गई थी, उत्तर कालमे वह जन्मसे भी मान ली गई; क्योंकि जिसका जन्म जिस वंशमें होता था उसे

अपने वंशके लिये नियत आजीविका ही करनी पड़ती थी और समान आजीविकावाले वंशोंके साथ ही विवाह, जाति सम्बन्ध आदि व्यवहार चलते थे।

महापुराणके सोलहवें पर्वसे स्पष्ट है कि प्रजा भगवानके पास आजीविकाके लिये ही पहुँची थी। उसकी प्रार्थना सुनकर भगवानने विचार किया कि विदेहोंमें जिस प्रकार षट्कर्म हैं और जैसी वर्णोंकी स्थिति है वैसी ही व्यवस्था यहाँ भी होनी चाहिये, तभी प्रजा जीवित रह सकती है। महापुराणके वे श्लोक इस प्रकार हैं—

'ततोऽस्माकं यथाद्य स्याज्जीविका निरुपद्रवा।
तथोपदेष्टुमुद्योग कुरु देव प्रसीद नः ॥१४१॥
श्रुत्वेति तद्वचो दीनं करुणाप्रेरिताशयः।
मनः प्रणिदधावेवं भगवानादिपुरुषः ॥१४२॥
पूर्वापरविदेहेषु या स्थितिः समवस्थिता।
साद्य प्रवर्तनीयात्र ततो जीवन्त्यमूः प्रजाः ॥१४३॥
षट्कर्माणि यथा तत्र यथा वर्णाश्रमस्थितिः।
यथा ग्रामगृहादीनां संस्त्यायाश्च पृथग्विधाः ॥१४४॥
तथाऽत्राप्युचिता वृत्तिः उपायैरेभिरङ्गिनाम्।
नोपायान्तरमस्त्येषां प्राणिना जीविकां प्रति ॥१४५॥

× × ×

असि मंषिः कृषिर्विद्या वाणिज्यं शिल्पमेव च।
कर्माणीमानि षोढा स्युः प्रजाजीवनहेतवः ॥१७९॥
तत्रासिकर्म सेवायां मषिर्लिपिविधौ स्मृता।
कृषिर्भू कर्षणे प्रोक्ता विद्या शास्त्रोपजीवने ॥१८०॥
वाणिज्यं वणिजां कर्म शिल्पं स्यात् करकौशलम्।
तच्च चित्रकलापत्रच्छेदादि बहुधा स्मृतम् ॥१८१॥
उत्पादितास्त्रयो वर्णाः तदा तेनादिवेधसा।
क्षत्रिया वणिजः शूद्राः क्षतत्राणादिभिर्गुणैः ॥१८२॥

क्षत्रियाः शस्त्रजीवित्वमनुभूय तदाभवन् ।
वैश्याश्च कृषिवाणिज्यपशुपाल्योपजीविताः ॥१८३॥

इस प्रकार भगवान ऋषभदेवने प्रजाकी प्रार्थनापर विदेह क्षेत्रके अनुसार ही यहाँ व्यवस्था की और षट् कर्मसे आजीविका तथा उस आजीविकाके आधारपर उनके तीन वर्ण स्थापित किये।

किन्तु इसके पश्चात् महापुराणमें दो श्लोक इस प्रकार पाये जाते हैं :—

तेषां शुश्रूषणाच्छूद्रास्ते द्विधा कार्वकारवः ।
कारवो रजकाद्याः स्युः ततोऽन्ये स्युरकारवः ॥१८४॥
कारवोऽपि मता द्वेधा स्पृश्यास्पृश्यविकल्पतः ।
तत्रास्पृश्याः प्रजाबाह्याः स्पृश्याः स्युः कर्त्तकादयः ॥१८५॥

इनमें बतलाया है कि तीनों वर्णोंकी सेवा करना शूद्रका काम है। वे शूद्र दो प्रकारके होते हैं कारु और अकारु। धोबी वगैरह कारु शूद्र हैं। शेष सब अकारु हैं। अकारुके भी दो भेद हैं—स्पृश्य अस्पृश्य। नाई आदि स्पृश्य शूद्र हैं और जो प्रजासे बाहर रहते हैं वे अस्पृश्य शूद्र हैं।

इन दो श्लोकोंकी संगति ठीक नहीं बैठती। यह तो स्पष्ट ही है कि भगवान ऋषभदेवने विदेह क्षेत्रके अनुसार ही यहाँ व्यवस्था की थी। अतः प्रथम तो विदेह क्षेत्रमें कोई जाति अस्पृश्य नहीं होती, दूसरे षट्कर्मों में सेवा करना कोई कर्म नहीं है, तीसरे कर्मभूमिकी रचनाके समय ही स्पृश्य-अस्पृश्य भेद नहीं हो सकता। यह भेद तो सुदीर्घ कालके पश्चात् ही हो सकता है, जब कि लोग नीच वृत्तिके अभ्यस्त हो जाते हैं। हाँ, मनुस्मृतिमें शूद्रका एकमात्र कार्य द्विजातियोंकी सेवा करना बतलाया है। और बदलेमें उच्छिष्ट भोजन और जीर्ण वस्त्र देना बतलाया है। यदि सेवासे उसका जीवन निर्वाह न हो तो वह कारुकर्म शिल्प आदि कर सकता है।

वर्तमान अवसर्पिणी हुण्डावसर्पिणी है। त्रिलोक प्रज्ञप्तिमें बतलाया है कि असंख्यात उत्सर्पिणी अवसर्पिणी कालोंके बीत जानेपर एक हुण्डावसर्पिणी काल आता है। इस कालमें कुछ अनोखी बातें होती हैं। उनमें एक तो ब्राह्मण वर्णकी उत्पत्ति है। और एक पंचमकालमें चाण्डाल आदि जातियां उत्पन्न हो जाती है। ये ही जातियां अस्पृश्य मानी जाती हैं। इससे भी स्पष्ट है कि कर्मभूमिके आदिमें शूद्रोंमें स्पृश्य-अस्पृश्य भेद नहीं हो सकता। अतः आदिपुराणके उक्त श्लोकोंकी स्थिति संदिग्ध है। यदि यह व्यवस्था ग्रन्थकारने चक्रवर्ती भरतके द्वारा कराई होती तो उसकी संगति बैठ सकती थी; क्योंकि भरतने उन तीन वर्णोंके मनुष्योंमेंसे ही एक चौथा वर्ण कायम कर दिया और उसको गर्भान्वय तथा दीक्षान्वय क्रियाओंका उपदेश भी दे डाला। पीछेसे भरतको अपनी इस गलतीका भान हुआ और उसने ऋषभदेवसे जाकर निवेदन किया कि धर्मके साक्षात् प्रणेता भगवानके होते हुए भी मूर्खतावश मैंने यह कार्य कर डाला है।

स्वाध्याय करते समय मेरे मनमें यह शङ्का उत्पन्न हुई कि ग्रन्थकारने इन क्रियाओंका उपदेश आदि ब्रह्मा भगवान ऋषभदेवके मुखसे न कराकर चक्रवर्तीके मुखसे क्यों कराया? इसपर विचार करते ही मेरा मस्तक दूरदर्शी लोकदृष्टा भगवज्जिनसेनाचार्यके चरणोंमें श्रद्धा और भक्तिसे झुक गया। आदिब्रह्मा भगवान् ऐसी कोई व्यवस्था कर ही नहीं सकते थे जो विदेहक्षेत्रमें प्रचलित सनातन परम्पराके प्रतिकूल हो। यह काम तो चक्रवर्ती भरतके ही योग्य था। जब वह ब्राह्मण वर्णकी स्थापना कर सकते हैं; तो ब्राह्मणोचित क्रियाकाण्डका उपदेश देना भी उन्हें उचित ही था।

कुछ विद्वान इसे मनुस्मृतिका प्रभाव बतलाते हैं क्योंकि मनुस्मृतिके दूसरे अध्यायमें गर्भान्वय क्रियाएँ बतलाई हैं। मेरी दृष्टिसे यह मनुस्मृतिका प्रभाव नहीं है किन्तु उसकी प्रतिक्रिया है। मनुस्मृतिने जो ब्राह्मण वर्णको सर्वोच्चपद प्रदान करके शेषवर्णोंको तिरस्कृत किया, भगवज्जिनसेना-

चार्यने उसका समुचित उत्तर दिया है। इस उत्तरमें दो बातें हैं, एक ओर तो उन्होंने ब्राह्मणत्वजातिके अहङ्कारपर करारी चोटें दी हैं, दूसरी ओर उन बातोंको अपनाया भी है जिनके कारण ब्राह्मणत्वकी प्रतिष्ठा थी। उसके बिना वे ब्राह्मणोंके बढ़ते हुए आधिपत्यसे अपने धर्मको नहीं बचा सकते थे। जरा एक बार मनुस्मृति पढ़नेके बाद महापुराणके ३८-३९ पर्वोंको पढ़िये तो आपकी आंखें खुल जायंगी और आप यह समझ सकेंगे कि जैनाचार्य कितने दूरदर्शी होते थे।

असलमें ऐसा साहित्य अपने समयका प्रतिनिधि होता है। उसमें हम परम्परासे चले आये हुए अतीतके आख्यानोंके साथ ही साथ तत्कालीन स्थितिका प्रतिबिम्ब भी देखते हैं। तभी तो वह अमर होता है और समाजको सदा अनुप्राणित करता रहता है। जिनसेनका महापुराण ऐसा ही है। वह जैनोंके लिए वैसा ही पूज्य है जैसा हिंदुओंके लिये महाभारत।

ब्राह्मणोंको इस बातका अभिमान है कि हम ब्रह्माके मुखसे उत्पन्न हुए हैं। किंतु जैन परम्परामे ब्राह्मण कोई वर्ण ही नहीं है, कालदोषसे इस युगमें सम्राट् भरतने उसकी सृष्टि कर डाली है। विद्वानोंका यह मत है कि आर्य लोग मूलतः भारतके निवासी नहीं थे। वे बाहरसे आकर यहां बसे हैं। उनका प्रधान कार्य यज्ञ था, उन्होंका ग्रन्थ वेद है। जैनोंकी उक्त मान्यतासे भी इसी मतकी पुष्टि होती है। यहांके मूल वर्ण तीन ही हैं। चौथा वर्ण आगन्तुक है। उसने यहांके आदिवासियोंपर अपना प्रभुत्व जमानेके लिए सब वर्णोंमें अपनी श्रेष्ठता स्थापित की। उस श्रेष्ठताका विरोध वेदविरोधी जैनोंने और फिर बौद्धोंने किया। जैन परम्पराने व्रती पुरुषोंको ब्राह्मण संज्ञा दी। पद्मचरितमें तो व्रती चाण्डालको भी ब्राह्मण कहा है। यथा—

व्रतस्थमपि चाण्डालं त देवा ब्राह्मणं विदुः।

मनुस्मृतिमें ब्राह्मणसे कर (टैक्स) लेनेका निषेध किया है। महापुराणमें भरत चक्रवर्ती क्षत्रियोंको उपदेश देते हुए कहते हैं—'जो वेदसे

अपनी आजीविका करते हैं और अधर्मपूर्ण अक्षरोंके पाठसे लोगोंको भ्रममें डालते हैं वे अक्षर म्लेच्छ हैं।......इन्हें सामान्य प्रजाके सामान अथवा उनसे भी निकृष्ट मानना चाहिये।...यदि वे कहें कि 'हम ही देवब्राह्मण हैं, हम ही लोकपूज्य हैं इसलिए हम राजाको उपजका उचित अंश नहीं देते। तो उनसे पूछना चाहिये कि आप लोगोंमें अन्य वर्ण-वालोंसे क्या विशेषता है? यदि वे जातिकी अपेक्षा अपनेको विशिष्ट बतलावें तो कहना चाहिये कि जातिकी अपेक्षा विशिष्टता अनुभवमें नहीं आती। यदि वे अपनेको गुणोंसे विशिष्ट बतलायें तो उनसे कहना चाहिये कि आप केवल नामधारी हैं, जो व्रती जैन ब्राह्मण हैं वे ही गुणोंसे अधिक है। अतः राजाको चाहिये कि इन द्विजोंको म्लेच्छोंके समान समझे और उनसे सामान्य प्रजाकी तरह ही उपजका उचित अंश ग्रहण करे।' (पर्व ४२, श्लोक १८२-१६२)

अन्य किसी भी वर्णके विषयमें इस तरहकी बातें नहीं कही गयी हैं। उनके ब्रह्मसूत्र (यज्ञोपवीत) को पापसूत्र कहा है तथा दीक्षान्वय क्रियाओंके द्वारा उन्हें जैन बना लेनेका भी विधान किया हैं। शूद्रोंके सम्बन्धमें कुछ भी विधि या निषेध नहीं मिलता जब कि मनुस्मृति उससे भरी हुई है,। हाँ विवाहके विषयमें एक श्लोक अवश्य आया है—

शूद्रा शूद्रेण वोढव्या नान्या तां स्वां च नैगमः।
वहेत् स्वा ते च राजन्यः स्वा द्विजन्मा क्वचिच्च ताः ॥२४७॥पर्व१६।

इसमें बतलाया है कि शूद्र-शूद्र कन्याके साथ ही विवाह करे, वैश्य-वैश्य कन्या तथा शूद्र कन्याके साथ विवाह करे, क्षत्रिय-क्षत्रिय कन्या वैश्य कन्या तथा शूद्र कन्याके साथ विवाह करे, ब्राह्मण-ब्राह्मण कन्याके साथ ही विवाह करे किंतु क्वचित् वह उक्त तीनों वर्णोंकी कन्याओंके साथ भी विवाह कर सकता है।

मनुस्मृतिमें भी ठीक इसी आशयका एक श्लोक हैं, जो इस प्रकार है—

'शूद्रैव भार्या शूद्रस्य सा च स्वा च विशःस्मृते ।
ते च स्वा चैव राज्ञश्च ताश्च स्वा चाग्रजन्मनः ॥१३॥' अ० ३।

मनुस्मृतिको देखनेसे ऐसा प्रतीत होता है कि इस प्रकारकी विवाह व्यवस्था बहुत प्राचीन है। इसीसे मनुस्मृतिकारको उसे अपने ग्रंथमें स्थान देना पड़ा है। अन्यथा ब्राह्मणका शूद्राके साथ विवाह उन्हें कैसे इष्ट हो सकता था। इसीसे मनुस्मृतिमें उक्त श्लोकके पश्चात् ही लिखा है—'किसी भी वृत्तांतमें आपत्ति आनेपर भी ब्राह्मण और क्षत्रियको शूद्राके साथ विवाह करनेका उपदेश नहीं है। तथा हीनजातिकी स्त्रीके साथ विवाह करके द्विजाति सतान सहित अपने कुलको शूद्र बना लेता है।' किंतु महापुराणमें आचार्य जिनसेनने असवर्ण विवाहका विधान करके भी इस तरहकी कोई बात नहीं लिखी। अतः जो विद्वान् महापुराणमें मनुस्मृतिका प्रभाव बतलाकर आचार्य जिनसेनकी इस अमूल्य कृतिका यथोचित मूल्य नहीं आंकते, वे उनके साथ न्याय नहीं करते। यह महाग्रंथ पुनः पुनः स्वाध्याय करनेके योग्य है। अस्तु,

जैनधर्मके प्रथम तीर्थङ्कर भगवान ऋषभदेवका जीवनवृत्त अंग्रेजीमें तो स्व० बैरिस्टर चम्पतरायजीने लिखकर प्रकाशित किया था। किंतु हिंदी भाषामें इसका अभाव था। अतः मेरे इस प्रयत्नसे उक्त अभावकी भी आंशिक पूर्ति हो सकेगी। दिनोंदिन शास्त्र स्वाध्यायकी प्रवृत्ति उठती जाती है। अतः नई पीढ़ी अपने पूर्व पुरुषोंके इतिवृत्तसे भी अपरिचित होती जाती है। अब इस बातकी आवश्यकता है कि नई पीढ़ीके लिए हिंदी भाषामें सुगम साहित्यकी रचना की जाय। इसी दिशामें मैं प्रयत्नशील रहता हूँ। यदि 'जैनधर्म' पुस्तककी तरह इस पुस्तकको भी पाठकोंने पसंद किया और अपनाया तो मैं इस तरहकी कुछ अन्य पुस्तकें भी पाठकोंके सामने रखनेका प्रयत्न करूँगा।

जयधवला कार्यालय
भदैनी, काशी।

कैलाशचन्द्र शास्त्री

भगवान ऋषभदेव

१. पूर्व कथन

कालचक्र

कालकी उपमा चक्रसे दी जाती है। चक्र अथवा चक्करका मतलब ही घूमनेवाला है। जैसे गाड़ीका चक्र (पहिया) घूमा करता है वैसे ही काल भी सदा घूमता रहता है, वह कभी-भी एकसा नहीं रहता। इस तथ्यको हम प्रतिदिन अपने जीवन-कालमें अनुभव करते हैं। तभी तो हम यह सुनते रहते हैं कि विश्व बड़ी तेजीके साथ बदल रहा है। यथार्थमें संसरण अथवा परिवर्तनका नाम ही संसार है और वह परिवर्तन सदासे होता चला आया है, यह कोई नया नहीं है। इसीमें जीवनका चरम उत्कर्ष और चरम अपकर्ष निहित है।

उत्कर्ष अथवा उन्नति और अपकर्ष अथवा अवनति ये दोनों सापेक्ष हैं। जहाँ उन्नति है वहाँ अवनति भी है और जहाँ अवनति है वहाँ उन्नति भी है। जो उठता है वह गिरता भी है और जो गिरता है वह उठता भी है। घूमते समय चक्केका जो भाग ऊँचा उठता है, वह नीचे भी जाता है और जो भाग नीचे जाता है वह ऊपर भी आता है। यही संसारकी दशा है। एक-बार वह उन्नतिसे अवनतिकी ओर जाता है तो दूसरी बार

अवनतिसे उन्नतिकी ओर जाता है। जिस कालमें यह विश्व अवनतिसे उन्नतिकी ओर जाता है उसे उत्सर्पिणी काल कहते हैं और जिस कालमें उन्नतिसे अवनतिकी ओर जाता है उसे अवसर्पिणी काल कहते हैं। उत्सर्पिणी कालमें मनुष्योंका अनुभव, आयु, बल, वगैरह क्रमसे बढ़ता जाता है और अवसर्पिणी कालमें घटता है। जैसे चन्द्रमाकी कलाएँ शुक्लपक्षमें क्रमसे बढ़ती हैं और कृष्णपक्षमें क्रमसे घटती हैं वैसी ही दशा इन दोनों कालोंमें मनुष्योंकी होती है। अतः जैसे शुक्लपक्षके बाद कृष्णपक्ष और कृष्णपक्षके बाद शुक्लपक्ष आता है वैसे ही उत्सर्पिणी कालके बाद अवसर्पिणी काल और अवसर्पिणी कालके बाद उत्सर्पिणी काल आता है।

इन दोनों कालोंमेंसे प्रत्येक कालके छै-छै भेद हैं। दुषमा-दुषमा, दुषमा, दुषमासुषमा, सुषमादुषमा, सुषमा और सुषमा-सुषमा ये छै भेद उत्सर्पिणी कालके हैं, और सुषमासुषमा, सुषमा, सुषमादुषमा, दुषमासुषमा, दुषमा और दुषमादुषमा, ये छै भेद अवसर्पिणी कालके हैं।

कालके विभागको 'समा' कहते हैं। तथा 'सु' और 'दुर्' उपसर्ग अच्छे और बुरे अर्थमें आते हैं। 'समा'से पहले 'सु' और 'दुर्' उपसर्ग जोड़नेसे सुषमा और दुषमा शब्द बनते हैं। अतः सुषमाका अर्थ अच्छा काल और दुषमाका अर्थ बुरा काल होता है। सुषमा और दुषमा शब्दोंके अर्थको लक्ष्यमें रखकर यदि अवसर्पिणी कालके छै भेद किये जायँ तो वे इस प्रकार होंगे—बहुत अच्छा काल, अच्छा काल, अच्छा बुरा काल, बुरा अच्छा काल, बुरा काल और बहुत बुरा काल। इन्हीं भेदोंको उलटकर रखनेसे उत्सर्पिणी कालके छै भेद हो जाते हैं। इनमेंसे पहले

कालका परिमाण चार कोड़ाकोड़ी सागर, दूसरे कालका परिमाण तीन कोड़ाकोड़ी सागर, तीसरे कालका परिमाण दो कोड़ाकोड़ी सागर, चौथे कालका परिमाण बयालीस हजार वर्ष कम एक कोड़ाकोड़ी सागर, पाँचवें दुषमा और छठे दुषमादुषमा कालका परिमाण इक्कीस-इक्कीस हजार वर्ष है। इस तरह दस कोड़ा-कोड़ी सागरका अवसर्पिणी काल और दस कोड़ा कोड़ी सागर-का उत्सर्पिणी काल होता है। इन दोनोंको मिलाकर एक कल्पकाल होता है, जो बीस कोडाकोड़ी सागरका है।

भोग-भूमि

एक समय इस भारत-भूमिमें अवसर्पिणीका पहला भेद सुषमासुषमा नामक काल छाया हुआ था। उस समय यहाँके मनुष्योंके शरीर वज्रके समान सुदृढ़ होते थे, तपाये हुए सुवर्णके समान उनकी कान्ति थी, आकृति अत्यन्त सौम्य थी। सबके सब बड़े बलवान्, बड़े धीर-वीर, बड़े तेजस्वी, बड़े प्रतापी, बड़े सामर्थ्यवान् और बड़े पुण्यशाली होते थे। उनके वक्षस्थल बहुत विस्तृत, कद लम्बे और आयु भी लम्बी होती थी।

उस समयकी स्त्रियाँ भी पुरुषोंके समान ही शरीरमें सुदृढ़, कदमें लम्बी और आयुमें समान होती थीं। स्त्रियाँ अपने पुरुषोंमें अनुरक्त रहती थीं और पुरुष अपनी स्त्रियोंमें अनुरक्त रहते थे। स्त्री और पुरुषका प्रत्येक युगल ऐसा शोभित होता था, जैसे कल्पवृक्ष और कल्पलता। प्रत्येक युगल जीवन-पर्यन्त बिना किसी क्लेशके भोगोंका उपभोग करता था।

उन्हें न कोई परिश्रम करना पड़ता था, न कोई रोग होता था, न मानसिक पीड़ा होती थी और न अकालमें उनकी मृत्यु ही

होती थी। वे बिना किसी बाधाके सुखपूर्वक जीवन बिताते थे। अनेक प्रकारके कल्पवृक्ष होते थे, उनसे उन्हें जीवनके लिये आवश्यक सामग्री प्राप्त होती थी। भूमि और उसकी उपजपर किसीका एकाधिकार नहीं था। 'अधिकार' नामकी वस्तुसे वे लोग परिचित ही नहीं थे। उनकी आवश्यकताएँ बहुत सीमित थीं और जो थीं, वे अपने-अपने आस-पासके कल्पवृक्षोंसे पूरी हो जाती थीं। अतः वे सुखी और सन्तोषी थे। उन्हें कलकी चिन्ता नहीं थी। इसीसे संचयकी भावनाका जन्म भी नहीं हुआ था। 'अपराध' किसे कहते हैं यह वे जानते ही नहीं थे।

अत. उस समय न कोई राजा था और न कोई प्रजा, न कोई जमींदार था न कोई काश्तकार, न कोई पूँजीपति था और न कोई गरीब, न कोई मिलमालिक था और न कोई मजदूर। यहाँतक कि किसी प्रकारका कोई तंत्र वहाँ नहीं था। सबके सब सच्चे अर्थमे 'स्वतंत्र' थे तथा सर्वत्र प्राकृतिक साम्यवाद था।

बाह्यरूपमें किसी प्रकारकी विषमता नहीं थी। सभी पुरुष सस्त्रीक थे और सभी स्त्रियाँ पुरुषवाली थीं। प्रत्येक युगल जीवन-पर्यन्त बना रहता था। जब आयु पूर्ण होती थी तो पुरुषको जम्हाई आती और स्त्रीको छींक। उसीसे दोनोंका मरण हो जाता था। मरते समय प्रत्येक युगल एक पुत्र और पुत्रीको जन्म देकर चल बसता था। दोनों शिशु अपना-अपना अँगूठा चूसकर बड़े होते थे और बड़े होनेपर अपने माता-पिताका स्थान ले लेते थे। इस तरह जनसंख्या ज्योंकी त्यों बनी रहती थी और उसकी वृद्धिकी समस्या भी नहीं थी। इस तरह उस समयके स्त्री-पुरुषोंका जीवन भोगप्रधान था इसलिये उसे भोग-भूमि-काल कहा जाता है।

प्रथम सुषमासुषमा कालके पश्चात् दूसरा सुषमा काल आया। यद्यपि इस दूसरे कालमें प्रथम काल-जैसा सुकाल तो नहीं रहा, फिर भी सब व्यवस्था और स्थिति प्रथम कालके जैसी ही बनी रही। इसलिये जहाँ प्रथम कालमे यहाँ उत्कृष्ट भोग-भूमि थी वहाँ दूसरे कालमें मध्यम भोग-भूमि हो गई। इसके पश्चात् जब दूसरा काल पूर्ण हुआ और मनुष्योंके बल-विक्रमका ह्रास होनेके साथ ही साथ कल्पवृक्षोंका भी ह्रास हो चला तब तीसरा सुषमादुषमा काल प्रारम्भ हुआ और मध्यम भोग-भूमिका स्थान जघन्य भोग-भूमिने ले लिया।

कर्मभूमिकी ओर

क्रमसे तीसरा काल बीतनेपर जब उसमें पल्यका आठवाँ भाग काल शेष रह गया तो इस भारत-भूमिमें प्रचलित पूर्व व्यवस्थामें बड़ी तेजीके साथ परिवर्तन होना प्रारम्भ हुआ और भोगोंकी भूमिमें लालित-पालित जनताके सामने नई-नई समस्याएँ उत्पन्न होने लगीं। राजमहलमे सुखकी गोदमें पले राजपुत्रकी राज्य छिन जानेपर जैसी दशा होती है, वैसी ही दशा उस समयकी जनताकी हुई।

ऐसे समयमें जनतामेसे ही समय-समयपर कुछ महापुरुष आगे आये, जिन्होंने अपने बुद्धिबलसे त्रस्त जनताका भय दूर किया और उसकी कठिनाइयोंको दूर करनेके उपाय सुझाये। वे महापुरुष मनु अथवा कुलकर कहलाये।

भोग-भूमि कालमें कल्पवृक्षोंसे निकलनेवाला प्रकाश इतना तीव्र होता था कि लोग सूरज और चाँद तकसे अपरिचित थे। किन्तु कल्पवृक्षोंका प्रकाश मन्द पड़ जानेपर जब एक दिन आसाढ़ी पूर्णिमाकी सन्ध्याको पूरब दिशामे उदित होता हुआ

चन्द्रमा और पश्चिममें अस्त होता हुआ सूर्य दिखलाई पड़ा तो लोग इन्हें देखकर व्याकुल हो उठे। उस समय प्रतिश्रुति नामक महापुरुष सबमें विशिष्ट बुद्धिमान् गिने जाते थे। अतः जनता एकत्र होकर उनके पास गई। उन्होंने कहा—भद्र पुरुषों! ये सूर्य और चन्द्रमा नामके ग्रह हैं। अभीतक इनका प्रकाश कल्पवृक्षोंके प्रकाशसे छिपा रहता था, इसलिये ये नहीं दिखते थे। अब चूँकि समयके फेरसे कल्पवृक्षोंका प्रकाश मन्द पड़ गया है अतः दिखने लगे हैं। इनसे तुम्हें डरना नहीं चाहिये।

प्रतिश्रुतिके इन वचनोंसे उन लोगोंको बहुत आश्वासन मिला। इससे उन्होंने प्रतिश्रुतिकी बहुत स्तुति की और प्रतिश्रुति प्रथम कुलकर कहलाये।

इसके पश्चात् क्रमसे बहुत-सा काल बीतनेपर जब कल्पवृक्षोंकी प्रभा बहुत ही मन्द पड़ गई और बुझते हुए दीपकके समान उनका तेज नष्ट होनेको ही था, एक दिन रात्रिके प्रारम्भमें आकाशमे तारागण झिलमिल करते हुए दिखाई दिये। तारोंको देखकर मनुष्य पुनः व्याकुल हो उठे। उस समय सन्मति नामके एक महापुरुष सबमे विशिष्ट बुद्धिमान् गिने जाते थे। सब उनके पास गये। सन्मतिने क्षणभर विचारकर उनसे कहा—'भद्र पुरुषों! ये तारे हैं। अबसे पहले भी ये विद्यमान थे, परन्तु कल्पवृक्षोंके कारण छिपे हुए थे। अब उन वृक्षोंकी प्रभा क्षीण हो गई है, इससे स्पष्ट दिखाई देने लगे हैं।

यह सुनकर सब लोग निर्भय हुए। उन्होंने सन्मतिकी प्रशंसा और सन्मान किया। ये सन्मति दूसरे कुलकर अथवा मनु हुए।

उक्त घटनाके पश्चात् फिर समय बीतने लगा। जब बहुत-सा काल बीत गया तो पुनः एक समस्या उपस्थित हुई। पहले

सिंह व्याघ्र पशु भी सरल होते थे, वे किसीको सताते नहीं थे। लोग अन्य पशुओंकी तरह ही अपने हाथसे उनका लालन-पालन करते थे। किन्तु अब वे भी मुँह फाड़ने और दाँत दिखाने लगे। ठीक ही है, जब मनुष्योंमें ही वह बल-पौरुष और सुख-सन्तोष नहीं रहा और वे अपनी समस्याओंसे परेशान रहने लगे तो पशु ही अपने जन्मजात स्वभावको कबतक भूले रहते। सूरज, चाँद और तारे तो आकाशमें रहते थे किन्तु पशु तो उनके रात-दिनके सहवासी थे। अतः उनकी भयंकर गर्जनासे भयभीत हो लोग उस समयके सबसे बुद्धिमान् महापुरुष क्षेमंकरके पास गये और बोले—देव! जिन सिंह व्याघ्र आदि पशुओंको हम-लोग अपनी गोदमें बैठाकर खिलाते थे और जो बिना किसी उपद्रवके हमलोगोंके साथ-साथ रहा करते थे, आज वे ही पशु हमें अत्यन्त भयंकर दीख पड़ते हैं और अपनी दाढ़ों तथा नखोंसे हमें चीर डालना चाहते हैं। इनसे बचनेका हमें कोई उपाय बतलाइये।'

क्षेमंकर कहने लगे—भद्र पुरुषों! यह सब समयका फेर है। जबतक आपको इनसे भय उत्पन्न नहीं हुआ था, तबतक ये भी निर्भय थे। अब चूँकि आपमें वह बल-पौरुष और निर्भयता नहीं रही, इसलिये इन्होंने भी रौद्ररूप धारण कर लिया है। अब आप लम्बे-लम्बे नख और दाढ़वाले पशुओंका साथ छोड़ दें और इनसे सावधान रहें।'

मनुष्योंने वैसा ही किया और सदासे हिलमिलकर रहते आये मनुष्यों और पशुओंके बीचमें सबसे प्रथम भेदकी रेखा खिंची।

इसके पश्चात् पुनः समय बीतने लगा और जैसे-जैसे समय बीतने लगा वैसे-वैसे मनुष्यों और हिंस्र पशुओंके बीच भेदकी रेखा गहरी और चौड़ी होती गई। कारण यह कि ज्यों-ज्यों

मनुष्य उनसे अधिक भयभीत होते गये त्यों-त्यों सिंह व्याघ्र आदि पशु अति प्रबल और भयानक होते गये। और ज्यों-ज्यों वे अति प्रबल होते गये त्यों-त्यों मनुष्य उनसे अधिकाधिक डरने लगे। यद्यपि उनके साथ मनुष्योंने सहवास छोड़ दिया था फिर भी अभीतक वे उनके बीचमें ही रहते थे। अतः अब जब कभी वे मनुष्योंपर आक्रमण करने लगे। इससे यह एक नई समस्या उत्पन्न हुई। तब मनुष्य उस समयके विशिष्ट बुद्धिशाली क्षेमंधर नामक चौथे कुलकरके पास गये। उन्होंने लाठी वगैरहसे आत्मरक्षा करना बतलाया। इसके बाद फिर पहलेकी भांति समय बीतने लगा।

बहुत-सा काल बीत जानेपर फिर एक समस्या पैदा हुई, जो पहलेकी समस्याओंसे अत्यन्त गम्भीर थी और जिसमें मनुष्य जातिके पतनका स्पष्ट संकेत था। समस्या यह थी कि कल्पवृक्ष दिनपर दिन कम होते जाते थे तथा पहले जितनी सामग्री भी उनसे नहीं मिलती थी। अतः लोगोंमें विवाद होने लगे और वे कल्पवृक्षोंके ऊपर अपना-अपना अधिकार जतलाने लगे। तब उस समयके बुद्धिमान् महापुरुष सीमंधरने सोच-विचारकर कल्पवृक्षोंकी सीमा मौखिक रूपसे नियत कर दी।

बहुत समय तक यह व्यवस्था चालू रही। किन्तु जब घटते-घटते कल्पवृक्ष बहुत थोड़े रह गये और सामग्री भी बहुत थोड़ी देने लगे तो पारस्परिक विवादने उग्ररूप धारण किया और मनुष्य एक दूसरेके बाल नोचनेपर उतारु हो गये। तब सीमंकर नामके कुलकरने कल्पवृक्षोंकी मौखिक सीमाको झाड़ी वगैरह गाड़कर चिह्नित कर दिया और इस तरह कल्पवृक्षोंकी सीमाको लेकर उत्पन्न हुआ विवाद शान्त हो गया।

इसके बाद बहुत-सा समय बीतनेपर विमलवाहन नामके सातवें कुलकर हुए। अबतक मनुष्य पशुओंको शौकिया पालते थे, उनसे कुछ काम नहीं लेते थे क्योंकि काम लेनेकी आवश्यकता ही नहीं पड़ती थी, इसीसे वे यह भी नहीं जानते थे कि इनसे कुछ काम लिया जा सकता है। विमलवाहन नामके बुद्धिमान महापुरुषने सवारीके योग्य पशुओंपर जीन, हौदा वगैरह कसकर सवारी करना सिखलाया।

फिर बहुत-सा समय बीतनेपर चक्षुष्मान नामके आठवें कुलकर हुए। इनसे पहले लोग अपनी सन्तानका मुख नहीं देख पाते थे, सन्तानको जन्म देते ही मर जाते थे। किन्तु अब सन्तानको जन्म देकर भी वे कुछ समय बादतक जीवित रहने लगे। अतः वे सन्तानको देखकर बहुत घबराये कि यह क्या हुआ। चक्षुष्मानने सब बातें समझाकर उनका भय दूर किया।

इसके पश्चात् यशस्वान् नामके नौवें कुलकर हुए। इन्होंने जनताको अपनी सन्तानोंको आशीर्वाद देना बतलाया। फिर क्रमसे अभिचन्द्र नामके दसवें और चन्द्राभ नामके ग्यारहवें कुलकर हुए। इन्होंने सन्तानका लालन-पालन करना सिखलाया।

जबतक कल्पवृक्षोंके कारण सूर्यकी तीखी किरणें पृथ्वीतक नहीं पहुंचती थीं तबतक वर्षा भी नहीं होती थी, किन्तु जब कल्पवृक्षोंका लोप हो चला और उनमें इतनी शक्ति नहीं रही कि वे सूर्यकी तीखी किरणोंको पृथ्वीपर पड़नेसे रोक सकें तब आकाशमें मेघ दिखाई देने लगे और थोड़ी-थोड़ी वर्षा भी होने लगी। धीरे-धीरे वर्षाका जोर बढ़ता गया और नदी-नालोंकी सृष्टि हो चली। अब लोगोंके सामने यह समस्या पैदा हुई कि इन्हें कैसे पार किया जाये। तब मरुदेव नामके कुलकरने नावोंके द्वारा नदी पार करनेकी शिक्षा दी।

तेरहवें कुलकर प्रसेनजितके समयमें एक और समस्या उत्पन्न हुई। इनसे पहले जो बच्चे पैदा होते थे उनके साथ जरायु नहीं आती थी। धीरे-धीरे उत्पन्न हुए बच्चोंके शरीरपर मांसकी एक पतली झिल्ली रहने लगी। प्रसेनजितने इस झिल्लीको फाड़ना सिखलाया।

प्रसेनजित्के पश्चात् चौदहवें कुलकर नाभिराय हुए। इनके समयमें उत्पन्न हुए बालककी नाभिमे लम्बा नाल लगा आने लगा। इसे काटना बतलाया। इसीसे यह नाभिरायके नामसे प्रसिद्ध हुए।

नाभिरायके समयमें वर्षाने ऋतुका रूप धारण कर लिया था। आकाशमे काले-काले सघन मेघ प्रकट होते थे और समस्त आकाशमे जहाँ तहाँ फैल जाते थे। मेघोंकी गम्भीर गर्जनासे पहाड़ियाँ प्रतिध्वनित हो उठती थी। उसे सुनकर मयूर मस्त हो जाते थे। और वर्षाके जल कणोसे आर्द्र शीतल वायु उनके फैले हुए पंखोंके साथ खिलवाड़ करने लगती थी। गरजते हुए मेघोसे गिरती हुई जलधारको देखकर ऐसा लगता था मानों कल्पवृक्षोंका क्षय हो जानेके शोकसे पीड़ित हो अम्बर दहाड़ मार-मारकर रुदन कर रहा है।

समय-समयपर वर्षाके होनेसे पृथ्वीमे अनेक अङ्कुर उगने लगे और धीरे-धीरे बढ़ने लगे। उन्होंने कल्पवृक्षोंका स्थान ले लिया। समस्त पृथिवी तरह-तरहके खाद्य और अखाद्य उपजसे श्यामल हो गई। किन्तु जनता उसका उपयोग करना नहीं जानती थी। वह बार-बार ललचाई हुई दृष्टिसे पृथ्वीकी ओर देखती थी और देखकर भ्रममें पड़ जाती थी। जब वह जीवनकी चिन्तासे व्याकुल हो उठी तो नाभिरायके पास गई और दीनता-पूर्वक

बोली—'स्वामी! हमारे जीवनदाता कल्पवृक्ष हमें अनाथ करके लुप्त हो गये। अब हम कैसे जीवित रहें? पृथ्वीपर कल्पवृक्षोंके स्थानमें और २ तरहके वृक्ष उगे हैं, उनमे तरह-तरहके फल भी लगे हुए है। वे हिल-हिलकर हमें बुलाते भी हैं। हम उनके पास जायें या नहीं और उनके फल खायें या नहीं। वे हमें मारेंगे तो नही? देव! आप सब जानते हैं और हम मूर्ख हैं। अतएव दुखी होकर आपके पास आये हैं। आप हमें जीवनका उपाय बतलायें।

भद्रपुरुषों! ये वृक्ष तुम्हारे योग्य हैं, इसमें तुम्हें कोई सन्देह नहीं करना चाहिए। किन्तु इन विषवृक्षोंका सेवन नहीं करना चाहिये। उस ओर वे औषधियाँ हैं और वे जो लाठीसे खड़े हैं, इनमे मीठा रस भरा हुआ है। दाँतोंसे काट काटकर या किसी भारी वस्तुसे कुचलकर इनका रस सेवन करना चाहिये—नाभिरायने दयार्द्र हो हाथके इशारेसे लोगोंको बतलाया। तथा उन्होंने हाथीके गण्डस्थलपर मिट्टीके द्वारा थाली आदि बरतन बनाकर लोगोंको दिखलाये।

उनके द्वारा बतलाए हुए उपायोंसे जनता बहुत ही सन्तुष्ट हुई और उसने नाभिरायका बहुत सन्मान किया।

पहले बतलाया है कि भोगभूमिकालके मनुष्य सन्तोषी होते थे उनकी सम्पूर्ण आवश्यकताएँ कल्पवृक्षोंके द्वारा पूर्ण हो जाती थीं। इसीसे उनमे अपराध करनेकी प्रवृत्ति भी नही थी। किन्तु आवश्यकताकी पूर्तिमें कमी पड़नेपर उनमे अपराध करनेकी नई प्रवृत्ति उत्पन्न हुई। और ज्यों-ज्यों आवश्यकताएँ बढ़ती गईं तथा उनकी पूर्तिमें कमी आती गई त्यों-त्यों अपराधोंकी प्रवृत्ति भी बढ़ती गई। अतः उसको रोकनेके लिए दण्डविधान आवश्यक हुआ।

प्रथम पांच कुलकरोंके समयमें अपराधीको केवल 'हा' शब्दसे दण्ड दिया जाता था, जिसका आशय है,—'हाय ! बुरा किया'। इसके पश्चात् पांच कुलकरोंके समयमें 'हा' मा' इन दो शब्दोंके द्वारा अपराधीको दण्ड दिया जाता था, जिसका आशय है—'हाय बुरा किया, आगे ऐसा मत करना'। शेष कुलकरोंके समयमें 'हा' 'मा' 'धिक्' इन तीन शब्दोंके द्वारा कठोरसे कठोर दण्ड दिया जाता था, जिनका आशय है–'हाय बुरा किया, आगे ऐसा मत करना तुम्हें धिक्कार है।' इस तरह ज्यों-ज्यों मनुष्योंका नैतिक पतन होता गया त्यों-त्यों दण्डकी मात्रा भी बढ़ती गई।

इस तरह कालचक्रके परिवर्तनसे भोगभूमिने क्रमसे कर्मभूमिकी ओर पग बढ़ाया और भोगोंमें व्यस्त सुखी और शान्त जीवनमें उत्पन्न हुई नई-नई कठिनाइयोंसे मनुष्योंको कर्म करनेकी प्रेरणा मिली। किन्तु अभी भी कर्मभूमिके आनेमें कुछ विलम्ब था और वह एक युगपुरुषकी प्रतीक्षा कर रही थी।

---

२. ऋषभदेवके पूर्वभव

महाबल

इसी जम्बूद्वीपमें मेरुपर्वतसे पश्चिमकी ओर विदेह क्षेत्र है। वहाँसे हमेशा मुनिजन कर्मरूपी बन्धनको काटकर विदेह-शरीर-रहित—होकर मोक्ष प्राप्त करते रहते हैं। इसलिये इस क्षेत्रका विदेह नाम सार्थक है। इस विदेह क्षेत्रमें एक गन्धिल नामका

देश है, जो स्वर्गके खण्डकी तरह प्रतीत होता है। इसके मध्य भागमें एक विजयार्ध नामका बड़ा भारी पर्वत है। उसपर चारण-ऋद्धिके धारक मुनि सदा सिंहकी तरह निर्भय विचरण करते रहते हैं।

उस पर्वतकी उत्तर श्रेणीमें एक अलका नामकी नगरी है। उस नगरीका राजा अतिबल नामका एक विद्याधर था। उसकी आज्ञाको समस्त विद्याधर राजा मुकुटकी तरह अपने मस्तकपर धारण करते थे। वह बड़ा शूरवीर और विजेता था। सदा वृद्ध अनुभवी पुरुषोंकी संगति करता था, और अपनी इन्द्रियोंको भी वशमें रखता था। इसीसे वह अपनी सेनाकी सहायतासे बड़े-बड़े शत्रुओंको झटपट नष्ट कर देता था।

उस राजाकी मनोहरा नामकी रानी थी। उसके अतिशय भाग्यशाली महाबल नामका पुत्र उत्पन्न हुआ। वह पुत्र गुरुओंके समागम तथा पूर्वभवके संस्कारके सुयोगसे समस्त विद्याओंमें निपुण हो गया। महाराज अतिबलने अपने पुत्रकी योग्यताको प्रकट करनेवाले विनय आदि सद्गुणोंसे प्रभावित होकर उसे युवराज बना दिया।

कुछ समय पश्चात् विषय-भोगोंसे विरक्त होकर राजा अतिबलने जिनदीक्षा लेनेका विचार किया, और राज्याभिषेक-पूर्वक सब राज्य अपने पुत्र महाबलको सौंपकर, बन्धनसे छूटे हुए हाथीकी तरह घरसे निकल पड़े तथा वनमें जाकर दीक्षा ले ली।

अतिबलके दीक्षा ग्रहण करनेके पश्चात् महाबलने राज्यकी बागडोर सम्हाली। प्रायः राज्य पाकर राजा लोग जवानी, रूप, ऐश्वर्य और प्रभुत्वके मदमें चूर हो जाते हैं, किन्तु महाबल राज्य-लक्ष्मीको पाकर पहलेसे भी अधिक निर्मद हो गया। उसने अपने

राज्यसे 'अन्याय' शब्दको ही नष्ट कर दिया और प्रजाको स्वप्नमें भी भय और क्षोभका अनुभव नहीं होने दिया।

उसके चार मन्त्री थे, जो बुद्धिमान् स्नेही और दीर्घदर्शी थे। उनके नाम क्रमशः महामति, संभिन्नमति, शतमति और स्वयंबुद्ध थे। ये चारों ही मंत्री राज्यके मूलस्तम्भ थे। उनमे स्वयंबुद्ध मंत्री सम्यग्दृष्टि था, शेष तीन मंत्री मिथ्यादृष्टि थे। यद्यपि उनमे इस तरह मतभेद था परन्तु स्वामीका हित करनेमे चारों ही तत्पर रहते थे।

एकबार स्वयंबुद्ध मंत्री अकृत्रिम चैत्यालयोंकी बन्दना करनेके लिये मेरु पर्वतपर गया और उसके समीपवर्ती प्रदेशोंकी शोभा देखकर अत्यन्त आनन्दित हुआ। मेरुपर्वतके चारों ओरकी पृथ्वीपर भद्रशाल वन है और पर्वतके ऊपर नन्दन वन, सौमनस वन और पाण्डुक वन हैं। ये चारों ही वन सदा फल-फूलोंसे लदे हुए वृक्षोंसे अत्यन्त मनोरम प्रतीत होते हैं। इन वनोंकी शोभा निहारता हुआ स्वयंबुद्ध मंत्री मेरु पर्वतपर जा पहुँचा।

पहले उसने देवोंसे पूजित अकृत्रिम चैत्यालयोंकी प्रदक्षिणा दी। फिर भक्तिपूर्वक वारंबार नमस्कार करके पूजा की। इस प्रकार क्रमसे भद्रशाल आदि बनोंमें विराजमान अकृत्रिम जिन-बिम्बोंकी वन्दना करके क्षणभरके लिये वह एक स्थानपर बैठ गया। इतनेमें ही उसने आकाशमे विहार करनेवाले दो मुनियों-को देखा। वह तुरन्त उठकर खड़ा हो गया और जब मुनि सुख-पूर्वक बैठ गये तो स्वयबुद्ध मंत्री उन्हें नमस्कार करके उनके पास बैठ गया और विनय-पूर्वक बोला—

'हे स्वामिन्! इस लोकमें अत्यन्त प्रसिद्ध, विद्याधरोंका अधिपति राजा महाबल हमारा स्वामी है। मुझे यह संशय है कि

वह भव्य है अथवा अभव्य है। कृपा करके मेरे इस सन्देहको दूर करें।

जब स्वयंबुद्ध मंत्री चुप हो गया तो उनमेंसे आदित्यगति नामके अवधिज्ञानी मुनि कहने लगे—हे भव्य! तुम्हारा स्वामी भव्य ही है। वह इसी जम्बूद्वीपके भरतक्षेत्रमें दसवें भवमे प्रथम तीर्थङ्कर होगा। मैं संक्षेपमें तुम्हें उसके पूर्वजन्मका वृत्तान्त सुनाता हूँ, जहाँ उसने धर्मका बीज बोया था।

इसी जम्बूद्वीपमें मेरुपर्वतसे पश्चिमकी ओर विदेह क्षेत्रमें गन्धिला नामक देश है। उसमें सिंहपुर नामका नगर है। उस नगरमें श्रीषेण नामका राजा था। उसकी सुन्दरी नामकी स्त्री थी। उन दोनोंके दो पुत्र थे—बड़े पुत्रका नाम जयवर्मा था और और छोटेका नाम श्रीवर्मा। छोटा पुत्र श्रीवर्मा माता-पिताको अत्यन्त प्रिय था। तथा अन्य सबलोग भी उससे अनुराग करते थे। अतः श्रीषेणने उसे ही राज्य दिया और बड़े पुत्र जयवर्मा की उपेक्षा करदी। इससे जयवर्माको बड़ा विराग हुआ और उसने जिनदीक्षा लेली।

अभी उसे दीक्षा लिए अधिक दिन नहीं हुए थे कि एक दिन उसने आकाशमें जाते हुए एक विद्याधरको देखा। उसे देखकर जयवर्माने यह निदान किया कि आगामी भवमें मुझे भी विद्याधर होनेका सौभाग्य प्राप्त हो। वह अपने मनमें ऐसा सोच ही रहा था कि इतनेमें ही एक भयंकर सर्पने उसे डस लिया और वह मरकर अपनी मानसिक भावनाके अनुसार विद्याधरोंका अधिपति महाबल हुआ।'

इतना कहकर मुनिराज पुनः बोले—'भद्र! आज रातको महाबलने दो स्वप्न देखे हैं। एक स्वप्नमें उसने देखा है कि अन्य तीन मन्त्रियोंने उसे बलपूर्वक किसी कीचड़में फँसा दिया है और

तुमने उसे कीचड़से निकालकर सिहासनपर बैठाया है। दूसरे स्वप्नमें उसने अग्निकी प्रदीप्त ज्वालाको प्रति समय क्षीण होते देखा है। इन दोनों स्वप्नोंको देख वह तुम्हारी प्रतीक्षामें बैठा है। इसलिए तुम शीघ्र चले जाओ। उसके कहनेसे पहले ही तुम्हारे मुखसे इन दोनों स्वप्नोंको सुनकर वह बड़ा विस्मित होगा। और फिर तुम जो कुछ कहोगे वह प्रसन्नतासे उसे करेगा। उसका पहला स्वप्न उसके आगामी भवमें प्राप्त होनेवाली विभूतिका सूचक है और दूसरा स्वप्न उसकी आयुके ह्रासका सूचक है। अब उसकी आयु केवल एक माहकी ही शेष है। अतः शीघ्र जाकर उसके कल्याणका प्रयत्न करो।'

मुनिराजके वचन सुनकर स्वयंबुद्ध कुछ व्याकुल हुआ और शीघ्र ही मुनिराजको नमस्कारकर अपने नगर लौट आया। जैसे ही वह महाबलके पास पहुँचा, उसे प्रतीक्षा करते हुए पाया। उससे मुनिराजने जो कुछ कहा था वह सब उसने महाबलसे निवेदन कर दिया।

बुद्धिमान महाबलने अपनी आयु थोड़ी जानकर धर्मध्यानमें अपना चित्त लगाया। उसने अपने उद्यानके जिन मन्दिरमें आष्टाह्निक पूजाका आयोजन किया और अपना राज्य अपने अतिबल नामक पुत्रको सौंपकर वहीं दिन बिताने लगा। तत्पश्चात् उसने गुरुकी साक्षीपूर्वक जीवनपर्यन्तके लिए सब परिग्रह छोड़-कर सल्लेखना व्रत अंगीकार किया। जब अन्तिम समय आया तब उसने अपना मन विशेष रूपसे पञ्चपरमेष्ठियोंमें लगाया। दोनों हाथोंको जोड़कर उसने मस्तकसे लगाया और मन ही मन नमस्कार मंत्रका जाप करते हुए तथा अपने शुद्ध आत्म-स्वरूपकी भावना करते हुए स्वयंबुद्ध मन्त्रीके सामने सुखपूर्वक प्राण छोड़े।

ललिताङ्ग देव

इधर महाबलकी मृत्यु होनेसे उसकी नगरीमें शोक छाया हुआ था, उधर दूसरे ऐशान स्वर्गके श्रीप्रभ नामक विमानमें आनन्दोत्सव मनाया जा रहा था। कल्पवृक्षोंके द्वारा पुष्पोंकी वर्षा हो रही थी, दुंदुभिका गम्भीर शब्द निरन्तर बढ़ता जाता था। नन्दन-काननके साथ अठखेलियां करता हुआ मन्द-मन्द वायु बह रहा था। सब ओरसे जय-जयकार करते हुए देवगण चले आ रहे थे।

उपपाद शय्यापर, सोकर उठे हुए तरुण पुरुषकी तरह बैठा हुआ ललिताङ्ग देव यह सब देखकर विस्मित था। 'मैं कौन हूं, यहां कहांसे आया हूं, यह मनोहर स्थान कौन-सा है ? ये लोग क्यों प्रसन्न हैं ?' वह अभी इन्हीं विचारोंमे उलझा था कि तुरन्त उसके अन्तस्तलमे ज्ञानका उदय हुआ और उसकी उलझनें सुलझ गईं। उसने जाना—'यह स्वर्ग है, ये प्रणाम करनेवाले देव हैं, यह विमान है, ये मन्द-मन्द मुस्काती हुईं अप्सरायें हैं। पूर्वभवमे मैं महाबल था। यह मेरे त्यागका सुफल है'।

इतनेमें ही कुछ देवोने उच्चस्वरसे जयघोष किया और मस्तक नवाकर निवेदन किया—'स्वामिन् ! स्नानकी सामग्री तैयार है। पहले स्नान करें, फिर जिनेन्द्रदेवकी पूजा करें। तत्पश्चात् देवसेनाका निरीक्षण करें, फिर नाट्यशालामें जाकर देवनर्तकियोंका मनोहर नृत्य देखें, और फिर देवियोंका सन्मान करें। देवत्व प्राप्तिका इतना ही तो फल है।'

ललिताङ्गने उठकर सब कार्य किये। अन्तमें वह अपनी देवाङ्गनाओंके बीचमें पहुंचा और सब कुछ भूल गया। समय

बीतता जाता था। किन्तु प्रतीत ऐसा होता था कि कल ही यहां आया हूँ।

जब लम्बी आयुका एक बहुत बड़ा भाग बीत गया तो ललितांगको एक स्वयंप्रभा नामकी नवीन देवांगनाका लाभ हुआ। जैसे भौंरेको आमकी नवीन मंजरी अत्यन्त प्रिय होती है वैसे ही ललिताङ्गको वह अत्यन्त प्रिय हुई और वह उसमें अत्यन्त आसक्त हो गया। कभी वह उसके साथ नन्दनकाननमें विहार करता तो कभी निषधाचलपर जाकर रमण करता। कभी मेरु पर्वतके जिनालयोंकी वंदना करता तो कभी नन्दीश्वर द्वीपमें जाकर पूजा करता। इस तरह स्वयंप्रभाके साथ विहार करते हुए उसकी आयुके शेष दिन भी पूरे हो चले और एक दिन जन्मसे उसके वक्षस्थलपर पड़ी हुई माला ऐसी म्लान हो गई, मानों मृत्युने ही उसका आलिंगन कर लिया है।

मृत्युके आगमनकी इस सूचनासे ललितांग अधीर हो उठा। उसके शरीरकी कान्ति मन्द पड़ गई। मुखपर दीनता आ गई। अब उसे स्वर्गमे भोगे हुए विगत सुख याद आने लगे। किन्तु उनकी स्मृतिसे उसे ऐसा प्रतीत हुआ कि भुक्त सुख भी दुःख बनकर उसे रुलाने आये हैं। उसे सर्वत्र मृत्युकी छाया दृष्टिगोचर होती थी। उसकी यह दशा देखकर उसके सेवक देव भी म्लान-मुख हो गये, किन्तु वे बेचारे कर ही क्या सकते थे?

ललितांगदेवकी माला मुरझानेका समाचार परमाणुकी गतिसे भी द्रुतगतिसे उस स्वर्गमे ओरसे छोरतक फैल गया। क्षय-चिकित्सालयमें किसी क्षयरोगीकी आसन्न मृत्युका समाचार पाकर जैसे समस्त रोगी क्षणभरके लिये सिहर उठते हैं वैसी ही दशा इस समाचारको सुनकर उन स्वर्गवासियोंकी हुई। किन्तु

जैसे इस मर्त्यलोकमें रात-दिन मनुष्योंको मरते हुए देखकर भी हम क्षणभरके लिये उद्विग्न होते हैं और फिर अपनी जीवन-यात्रामें व्यस्त हो जाते है वैसे ही वे स्वर्गवासी भी पुनः अपने आमोद-प्रमोदमें मस्त हो गये। किन्तु उनमें जो कुछ समझदार थे वे सम्बोधन करनेके लिये ललिताङ्गके पास आये और उसका विषाद दूर करते हुए बोले—'धीरवीर! अपनी धीरताका स्मरण करके शोकको दूर करो। जन्म मरणसे इस संसारमें कौन बचा हुआ है? इस स्वर्गमें जो आता है उसे एक दिन यहाँसे अवश्य जाना पड़ता है, क्योंकि आयु पूरी होनेपर एक क्षणके लिये भी यह किसीको ठहरा नहीं सकता। यह सदा प्रकाशमान स्वर्ग भी मृत्युसे ग्रस्त देवको अन्धकारमय प्रतीत होता है; क्योंकि उसका पुण्यरूपी दीपक बुझ जाता है। पुण्य क्षीण हो जानेपर प्रियजन भी अप्रिय व्यवहार करने लगते हैं। कलतक जो सेवक आँखोंके संकेतपर थिरकते थे वे ही मृत्युकी निशानी देखकर बुलानेपर भी नहीं सुनते। अधिक क्या कहें, स्वर्गसे च्युत होनेका समय निकट आनेपर देवको जो दुःख उठाना पड़ता है, वह दुःख नारकीको भी नहीं उठाना पड़ता। इस समय आप स्वयं इस बातका अनुभव कर रहे हैं। जैसे उदित हुए सूर्यका अस्त होना निश्चित है वैसे स्वर्गके प्राप्त सुखोंका विनाश भी निश्चित है। अतः हे आर्य! कुयोनियोंमें ले जानेवाले इस शोकको छोड़िये और धर्ममें मन लगाइये। क्योंकि धर्म ही परम शरण है।'

इस उपदेशसे प्रबुद्ध होकर ललिताङ्गने धैर्य धारण किया और धर्म सेवनपूर्वक निर्भय होकर शरीरका परित्याग किया।

●

वज्रजंघ

जम्बूद्वीपमें मेरुसे पूर्व दिशाकी ओर विदेह क्षेत्रमें पुष्कलावती नामका देश है। उस देशमें उत्पलखेटक नामका एक नगर है। उस नगरीमें राजा वज्रबाहु राज्य करता था। उसकी रानीका नाम वसुन्धरा था। ललिताङ्गदेव स्वर्गसे च्युत होकर उन दोनोंके वज्रजंघ नामका पुत्र हुआ।

धीरे-धीरे यौवनको प्राप्त होनेपर उसका सौन्दर्य उसी तरह खिल उठा जैसे धीरे-धीरे बढ़कर पूर्ण चन्द्रमाकी कान्ति खिल उठती है। उसके काले कुटिल लम्बे केश, कानोंतक विस्तीर्ण नेत्र, चन्दनसे चर्चित विशाल वक्षस्थल और लम्बी-लम्बी भुजाएँ, किसे आकृष्ट नहीं करते थे। साथ ही वह समस्त कलाओंका ज्ञाता, विनयी और जितेन्द्रिय था। यद्यपि वह पूर्ण युवा हो गया था किन्तु स्वयंप्रभा देवांगनाके अनुरागवश अन्य युवतियोंसे प्रायः खिचा-सा ही रहता था।

ललिताङ्गदेवके स्वर्गसे च्युत हो जानेपर स्वयंप्रभा देवीकी वही दशा हुई जो चकवेके विछोहमें चकवीकी होती है। जैसे वर्षा-ऋतुमें कोयल अपना कुहुकना बन्द कर देती है वैसे ही उसने भी अपना मनोहर आलाप बन्द कर दिया था। रात-दिन अपने पतिके विरहमें चुपचाप बैठी रहती थी। देवलोकके लिये यह एक नई बात थी। फिर भी एक देवने उसका शोक दूर कर उसे सन्मार्गमें लगाया और उसने धर्मसेवन करते हुए प्राण त्याग किया।

विदेह क्षेत्रमें एक पुण्डरीकिणी नगरी है। वज्रदन्त नामक राजा उसका स्वामी था। उसकी रानीका नाम लक्ष्मीमति था। स्वयंप्रभा देवी स्वर्गसे च्युत होकर उन दोनोके श्रीमती नामकी

पुत्री हुई। जैसे चैत्र मासमें चन्द्रमाकी कला लोगोंको अधिक आनन्दित करती है वैसे ही नवयौवनमें पदार्पण करनेपर श्रीमती भी लोगोको अधिक आनन्दित करने लगी।

एक दिन श्रीमती अपने राजभवनमे सोती थी। उस दिन उस नगरके उद्यानमें विराजमान यशोधर मुनिराजको केवलज्ञान प्राप्त हुआ। इसलिये स्वर्गके देव अपनी विभूतिके साथ उनकी पूजा करनेके लिये आये। उनका कोलाहल सुनकर श्रीमतीकी नींद खुल गई। देवोंको जाते हुए देखकर उसे पूर्व जन्मका स्मरण हो आया और वह तत्काल मूर्च्छित हो गई। सखियोंके शीतलोपचारसे उसकी मूर्च्छा दूर हुई किन्तु वह मौन ही रही।

इतनेमें उसके माता-पिता भी आ गये और अपनी कन्याकी अवस्था देखकर दुखी हुए। उन्होंने श्रीमतीसे जानना चाहा कि कैसे क्या हुआ? किन्तु वह चुपचाप बैठी रही। तब अनुभवी वज्रदन्त अपनी रानीसे बोले—'देवि! किसी रोगकी आशंका करके व्यर्थ ही भयभीत न हों। तुम्हारी पुत्री पूर्ण युवती हो गई है। अब इसका यह विकार किसी मानसिक रोगका सूचक है। इतना कहकर वज्रदन्तने पण्डिता धायको पुत्रीके पास छोड़ा और रानीके साथ अपने महलमें चले गये।

पण्डिता धाय अत्यन्त चतुर थी। एकान्त होनेपर बड़े प्यारसे श्रीमतीके शरीरपर हाथ फेरती हुई वह बोली—'पुत्रि! मेरा नाम पण्डिता सार्थक है, मैं सब कार्योंकी योजना करनेमें चतुर हूँ। इसके सिवाय मैं तुम्हारी माताके समान हूँ और प्रिय सखी भी हूँ। अतः मुझसे अपने मनका रोग बतलाओ; क्योंकि मातासे रोग नहीं छिपाया जाता। प्रायः यौवनके आरम्भमें ऐसा हुआ ही करता है। अतः संकोच दूर करके अपनी मूर्च्छाका कारण कहो।'

धायके वचन सुनकर श्रीमतीने अपना मुख नीचा कर लिया और लज्जासे मिश्रित स्वरमें बोली—धाय माँ ! मैं लाजसे भूमिमें गड़ी जाती हूँ और अत्यन्त दुखी हूँ। किन्तु तुम मेरी माँके समान हो और मेरी चिरपरिचित हो। इसीसे जो बात मैं किसीके सामने नहीं कह सकती थी वह तुमसे कहती हूँ। आज देवोंका आगमन देखकर मुझे अपने पूर्वभवका स्मरण हो आया। पूर्व जन्ममें मैं स्वर्गमें ललिताङ्गदेवकी स्वयंप्रभा नामकी देवी थी। मैंने उसके साथ अनेक भोग भोगे। उसके स्वर्गसे च्युत होनेके छः महीने पश्चात् वहाँसे चयकर मैं यहाँ उत्पन्न हुई हूँ।'

इतना कहते-कहते श्रीमती कुछ भावावेशमे आकर कहने लगी—सखि ! देख, यह ललिताङ्ग अब भी मेरे मनमें बसा हुआ है, ऐसा प्रतीत होता है मानों किसीने टाँकीसे उकेरकर उसे मेरे मनमें अंकित कर दिया है। वह कितना सुन्दर है ? कितना सौम्य है ? वस्त्र, माला और आभूषणोंसे अलंकृत उसके शरीरको मैं प्रत्यक्ष देख रही हूँ। उसके हाथका सुखद स्पर्श भी अनुभव करती हूँ।' यह कहते हुए श्रीमतीने ज्योंही हाथ पसारा, उसकी मोहनिद्रा भंग हो गई और वह विरहसे विकल होकर रोने लगी।

रोते-रोते वह बोली—'धाय माँ ! तू ही मेरे पतिको खोज सकती है, तेरे सिवाय अन्य कोई यह कार्य नहीं कर सकता। तू सचमुच पण्डिता है, अतः ललिताङ्गको खोजकर मेरे प्राणोंकी रक्षा कर। तेरे रहते हुए मुझे दुःख कैसे हो सकता है।' रुककर और कुछ सोचकर वह पुनः कहने लगी—मैंने एक उपाय सोचा है—मैं अपने पूर्वजन्मके वृतान्तको एक चित्रपटपर अंकित करके तुझे दूँगी। उसमें कुछ गूढ़ बातें भी अंकित होंगी। उसे लेकर जाना। उसे देखकर यदि कोई धूर्त झूठमूठ ही मेरा पति होनेका

ढोंग रचे तो उससे तू वे गूढ़ बातें पूछना और जब वह उत्तर न दे सके तो अपनी मन्द-मन्द मुस्कराहटसे उसे लज्जित करके चल देना।'

श्रीमतीकी बुद्धिमत्तासे भरी हुई बात सुनकर चतुर धायको हँसी आ गई। उसने मुस्कराते हुए कहा—'बेटी ! मेरे रहते हुए तेरे चित्तका संताप नहीं रह सकता। भला, आम्रमंजरीके होते हुए क्या कोयल दुखी रह सकती है ? मैं तेरा यह कार्य अवश्य पूरा करके लौटूँगी। मेरे लिये इस लोकमें कोई भी कार्य असाध्य नहीं है। अतः तू शोक छोड़ और स्नान ध्यान आदि कर। मैं तेरे पतिकी खोजमें जाती हूँ।'

चतुरा धाय श्रीमतीको समझाकर अपने घर गई और यात्राकी तैयारी करके, चित्रपट लेकर चल दी। घूमती-घूमती वह एक जिनालयमें पहुँची और चित्रपट फैलाकर एक ओर बैठ गई। जिनालयमें दर्शन करनेके लिये जो आता वही चित्रपटको देखता और उसका आशय न समझ सकनेके कारण देखकर चला जाता। कुछ देरके पश्चात् दो युवक आये और चित्रपटको देखकर आपसमें बोले, ऐसा मालूम होता है कि किसी राजपुत्रीको अपने पूर्वजन्मका स्मरण हुआ है और उसने अपने पूर्वजन्मकी सब घटनाएँ इस चित्रपटमें अंकित कर दी हैं।'

दोनों मनही मन मुस्कराते हुए धायके पास आये और बोले—'यह किसका चित्रपट है ? इस राजपुत्रीके पूर्वजन्मके पति हम ही हैं।

धाय सुनकर पहले तो खूब हँसी। फिर भी जब वे दोनों धूर्त अपनी बात दोहराते रहे तो उसने उनसे चित्रपटकी गूढ़ बातोंके बारेमें प्रश्न किये। तब तो वे चुप रह गये और लज्जित होकर चल दिये।

इतनेमें वज्रजंघने जिनालयमें प्रवेश किया। उसने पहले जिनालयकी प्रदक्षिणा की, फिर जिनेन्द्रदेवकी स्तुति करके उन्हें नमस्कार किया। पश्चात् वह उस स्थानपर आया जहाँ चित्रपट फैला हुआ था। चित्रपटको देखते ही वह अपनेसे बोला—'इस चित्रपटमें अंकित वृत्तान्त तो मेरा जाना हुआ-सा लगता है। ऐसा जान पड़ता है मानों मैं अपने ही पूर्वजन्मका वृतान्त इस चित्रमें देख रहा हूँ। यह ललिताङ्गदेव-सा प्रतीत होता है और स्त्रीका रूप तो ऐसा जान पड़ता है, मानो स्वयंप्रभा ही है। किन्तु इसमें कितने ही विषय गूढ़ क्यों हैं? यह ऐशान स्वर्ग दिखलाया है, यह उसमे श्रीप्रभ विमान चित्रित किया है। यह विमानके अधिपति ललिताङ्गदेवके समीप स्वयंप्रभा देवी बैठी हुई है।..'

वज्रजंघ चित्र देखता जाता था और आपही आप बुदबुदाता जाता था। उसके चित्तमें विचारोंका तूफान-सा उठ खड़ा हुआ था। वह कुछ भी निर्णय नहीं कर पाता था। धीरे-धीरे उसकी व्याकुलता बढ़ती गई, उसने दोनों हाथ सरपर रखकर जैसे ही दीवारका सहारा लेना चाहा कि वह मूर्छित होकर गिर पड़ा।

परिचारकोंके प्रयत्नसे थोड़ी देर बाद जब वह सचेत हुआ तो उसने पण्डिता धायको अपने पास बैठा हुआ देखा। उससे उसने पूछा—भद्रे! इस चित्रमें मेरे पूर्व जन्मकी बातें किसने अंकित की हैं, क्या तुम बतला सकती हो?

धाय बोली—कुमार! तुम्हारी मामीके एक श्रीमती नामकी पुत्री है। वह अभी अविवाहित है। उसीने इस चित्रमें अपना हस्त कौशल दिखलाया है। जिसकी खोजमें अनेक राजकुमार लगे हुये हैं उसीने मुझे आपको खोजनेके लिए भेजा है।

वह आपका पूर्वनाम ललितांग बतलाती है। परन्तु आपतो इसी भवमें साक्षात् ललितांग हैं क्योंकि आपके अंग अत्यन्त सुन्दर हैं।'

धायकी बातसे प्रफुल्लित होकर राजकुमार वज्रजंघने वह चित्रपट अपने हाथमें ले लिया और अपना एक चित्र धायके हाथमें दे दिया। दोनों चित्रोंमें प्रायः एक-सी ही घटनाएँ अंकित थीं। इसके पश्चात् राजकुमार जिनालयसे निकलकर चला गया और धाय उस चित्रको लेकर श्रीमतीके पास आई।

धायके प्रफुल्लित मुखको देखते ही श्रीमतीको आभास हो गया कि मेरी मनोकामना पूरी हुई है। वह धायके मुखसे सब समाचार सुननेके लिये आतुर हो उठी। किन्तु धायको विनोद सूझ रहा था वह श्रीमतीको बना-बनाकर खूब रस ले रही थी। अन्तमें जब उत्कण्ठावश वह रुआसी हो गई तो चतुरा धायने अपनी चतुरताका बखान करते हुए कुमार वज्रजंघका चित्रपट उसके सामने फैला दिया।

चित्रपटको देर तक गौरसे देखकर श्रीमतीने सुखकी साँस ली। उसे अपना मनोरथ पूर्ण होनेका विश्वास हो गया। अब चतुरा धायका मुख खुला। वह बोली—'बेटी! विश्वास रख, अपने प्राणनाथके साथ तेरा शीघ्र ही समागम होगा। अपना चित्रपट देकर राजकुमारके चुपचाप चले जानेसे अविश्वास मत कर। मैंने अच्छी तरह निश्चय कर लिया है कि उसका मन तुझमें ही रमा हुआ है। जाते समय दरवाजेपर उसने बहुत देर लगाई। वह बार-बार मुझे देखता था। कभी हंसता था, कभी जभाई लेता था, कभी कुछ स्मरण करता था, कभी दूर तक देखने लगता था और कभी गर्म-गर्म लम्बी श्वाँस लेता था। इन

सब चिन्होंसे जान पड़ा कि उसमें कामज्वरका प्रकोप हो रहा है। वह तेरे पिता राजा बज्रदन्तका भानजा है। कुलीन, चतुर और सुन्दर है। वरके योग्य सभी गुण उसमें विद्यमान हैं। अतः तेरे माता पिता भी उससे तेरा परिणय करनेमें अवश्य सहमत होंगे। इसलिये तू धैर्य रख, पतिके साथ तेरा शीघ्र ही समागम होगा।'

इस तरह पण्डिता धायने वज्रजंघके मनोहर समाचार देकर श्रीमतीको सुखी करनेकी भरसक चेष्टा की। किन्तु वह उसके सम्मिलनके विषयमे निराकुल नहीं हो सकी।

इधर ये बाते हो रही थीं उधर राजा वज्रदन्त समाचार पाकर अपने बहनोई राजा वज्रबाहुको ले आये। साथमें उनकी बहिन और भानजा भी था। बहन, बहनोई और भानजेको देखकर वज्रदन्त बहुत प्रसन्न हुए और उन्होने उनका उचित आतिथ्य सत्कार किया।

आतिथ्य सत्कारके पश्चात् जब सब सुखपूर्वक बैठे हुए थे तब वज्रदन्त अपने बहनोईसे बोले—मित्र! आज आप स्त्री और पुत्र सहित मेरे घर पधारे हैं, इसलिये मेरा चित्त अत्यन्त प्रसन्न है। हर्षके इस अवसरपर ऐसी कोई वस्तु नहीं है जो मैं आपको न दे सकूँ। आपको देनेका ऐसा सुअवसर फिर कब प्राप्त होगा। अतः मेरे घरमें जो कुछ वस्तु आपको अच्छी लगती हो वह ले लीजिये।'

चक्रवर्ती वज्रदन्तके प्रेमपगे वचन सुनकर राजा वज्रबाहु बोले—महाराज! आज आपने मेरा जो सन्मान किया है वही मेरे लिये सब कुछ है। आपकी कृपासे मेरे यहाँ किसी वस्तुकी कमी नहीं है फिर मैं आपसे किस वस्तुकी प्रार्थना करूँ। नष्ट

हो जानेवाली सम्मति आपकी कृपा पूर्ण दृष्टिके सामने तुच्छ है। अतः आज आपने जो मुझे स्नेहदान दिया है उसीसे मैं आज कृतकृत्य हूँ और अपने जीवनको सफल समझता हूँ। फिर भी मैं आपके वचनोंकी अवहेलना करनेमे असमर्थ हूँ अतः आपसे प्रार्थना करता हूँ कि अपनी पुत्री श्रीमती मेरे पुत्र वज्रजंघको देनेकी कृपा करें। यह आपका भानजा है अतः इसकी कुलीनतामें तो कोई सन्देह नहीं हो सकता। फिर जिस घरानेमें आपके स्वर्गीय पिताने अपनी कन्या प्रदान की उसमें आपको अपनी कन्या प्रदान करते हुए कोई संकोच नहीं होना चाहिये। तथा लोकमें ऐसी कहावत भी है कि अतिथि कन्याका अधिकारी होता है। अतः आप अपने भानजे वज्रजंघको अपनी कन्या प्रदान करके मुझे अनुगृहीत करें। धन सम्पत्ति तो मुझे आपसे अनेकवार मिल चुकी है। अतः इसवार कन्यारत्न देनेकी कृपा करें।

महाराज वज्रदन्तने बड़ी प्रसन्नताके साथ इस प्रस्तावको स्वीकार किया। सुयोग्यवरके साथ सुयोग्य कन्याके विवाहकी बातको मंत्री, सेनापति, पुरोहित सामन्त तथा नगर-निवासियोंने बहुत ही पसन्द किया और सबके सब विवाहकी तैयारीमें लग गये।

चक्रवर्ती वज्रदन्तकी आज्ञासे विश्वकर्माने रत्न और सुवर्णसे विवाह मण्डप तैयार किया। मण्डपके मध्यमे पद्मराग मणियोंसे बनी एक वेदी थी। मण्डपके भीतरी द्वारपर दोनों ओर मंगलद्रव्य रखे थे। राजभवनके आंगनमें चन्दनका छिड़काव हो रहा था।

शुभलग्न समीप आनेपर पवित्र जलसे भरे हुए सुवर्णमय कलशोंसे वरका अभिषेक किया गया। उस समय राजमन्दिरमें

शंख, घड़ियाल, दुन्दुभि वगैरहके शब्दोंसे खूब कोलाहल मचा हुआ था। सबलोग पुष्प और अक्षत फेंक फेंककर वर कन्याको आशीर्वाद दे रहे थे। अभिषेकके बाद वर कन्याने वस्त्र धारण किये और दोनों प्रसाधनगृहमें जाकर पूर्व दिशाकी ओर मुख करके बैठ गये। वहाँ उन्होंने विवाहमंगलके योग्य उतमोत्तम आभूषण पहने। पश्चात् वे विवाहवेदीपर पधारे। उस समय नगाड़ोंका मधुर शब्द, गायिकाओंके मंगलगान और वन्दीजनोंके मंगलपाठके साथ मिलकर सर्वत्र थिरकता सा प्रतीत होता था।

कन्यादानका शुभ मुहूर्त आते ही राजा वज्रदन्तने सोनेकी झारी अपने हाथमें ली, और वज्रजंघके हाथपर जलकी धारा छोड़ी। जब वज्रजंघने श्रीमतीका पाणिग्रहण किया तो उसके कोमल स्पर्शके सुखानुभवसे वज्रजंघकी आँखे क्षणभरके लिए निमीलित हो गई और श्रीमतीका शरीर भी रोमाञ्चित हो उठा।

विवाहके दूसरे दिन सन्ध्याके समय वर-वधू महापूत जिनालयमें गये। आगे-आगे वज्रजंघ था और पीछे-पीछे श्रीमती थी। साथमें पूजनकी सामग्री लिए हुए परिचारक गण थे। जिनालयमें जाकर दोनोंने पहले प्रदक्षिणा दी फिर गर्भगृहमें जाकर जिनेन्द्र भगवानकी सोत्साह पूजा की।

इस प्रकार जब सब कार्य पूरे हो चुके तो वज्रदन्त महाराजने वर-वधूको विदा किया और साथमे हाथी, घोडे, रथ, पयादे, रत्न वगैरह बहुत सा धन दिया।

जब वज्रजंघने श्रीमतीके साथ अपने नगरमें प्रवेश किया तो पुरवासियोंका उत्साह और प्रेम मकानोंकी छतोंपरसे फूलोंके रूपमे बरसने लगा। चारों ओरसे आशीर्वादके साथ-साथ पुष्प

और अक्षतकी वर्षा होने लगी। राजमहलमें पहुँचकर दोनों सुख-पूर्वक रहने लगे।

एकदिन महाराज वज्रबाहु अपने महलकी छतपर बैठे हुए आकाशकी शोभा देख रहे थे। अचानक बादलोंको बनता और बिगड़ता देखकर उन्हें संसारसे विरक्ति हो गई। लक्ष्मीको बादलोंकी तरह ही क्षण क्षणभंगुर जानकर उन्होंने अपने पुत्र वज्रजंघको राज्य सौंपा और जिनदीक्षा लेली।

उधर चक्रवर्ती वज्रदन्तके जीवनमें भी ऐसी ही घटना घटी। एकदिन वह राजदरबारमें सिंहासनपर बैठे हुए थे। मालीने एक तुरन्तका खिला हुआ सुन्दर कमलका फूल राजाको भेंट किया। जैसे ही राजाने उस कमलको हाथमें लेकर सूँघना चाहा वैसे ही उनकी दृष्टि कमलके अन्दर मरे हुए भौंरे पर जा पड़ी। उसे देखते ही वज्रदन्त विचारमें पड़ गये। वे सोचने लगे—'कमलके रसका लोभी यह भौंरा रसपान करनेके लिये आया था। रसपान करते-करते सूर्य अस्त हो गया और वह कमलमें बन्द होकर मर गया। विषयोंकी चाहका ही यह फल है।'

इतना सोचते ही चक्रवर्तीने अपने साम्राज्यका भार, अपने बड़े पुत्रको देना चाहा। किन्तु पुत्रने कहा—तात! जब आप ही इसे छोड़ना चाहते हैं तो मुझे इसमें क्यों फँसाते हैं। जिस वस्तुको आप त्याज्य मानते हैं हमारे लिये भी वह त्याज्य ही है।' अन्य पुत्रोंने भी यही उत्तर दिया। तब वज्रदन्तने अपने पुत्र अमित तेजके बालपुत्रको राज्यभार सौंपकर जिनदीक्षा लेली।

वज्रदन्त तथा उसके पुत्रोंके जिनदीक्षा ले लेनेसे रानी लक्ष्मी बहुत चिन्तातुर हुई। वह सोचने लगी कि इतने बड़े साम्राज्यकी रक्षा एक छोटासा बालक कैसे कर सकेगा। सोच-विचारकर

उसने दो विद्याधर कुमारोंके हाथ एक पत्र पेटिकामें बन्द करके अपने जामाता बज्रजंघ और पुत्री श्रीमतीके पास भेजा। पत्रमें लिखा था—'चक्रवर्ती बज्रदन्त अपने पुत्र और परिवारके साथ बनको चले गये है। उनके राज्यपर पुण्डरीकको बैठाया है। पुण्डरीक बालक है और हम दोनों सास बहू स्त्री हैं। अतः बिना स्वामीके यह राज्य नष्ट हो रहा है। अब इसकी रक्षाका भार आपपर ही है। अतः शीघ्र आइये।'

विद्याधर कुमार सम्वादपेटिका लेकर आकाशमार्गसे चल दिये और शीघ्र ही उत्पलखेटक नगर जा पहुँचे। राजमन्दिरके द्वार पर पहुँचते ही द्वारपाल उन्हें भीतर ले गया। राजसभामें बैठे हुए बज्रजंघको देखते ही दोनोंने उन्हें नमस्कार किया और भेंटके साथ वह पेटिका उनके सामने रखदी। पेटिका खोलकर वज्रजंघने पत्र ले लिया और उसे पढ़कर सब समाचार जाने। फिर उन्होंने वह पत्र रानी श्रीमतीको दिया। पिता और भाइयोंके दीक्षा लेनेके समाचारोंसे श्रीमती बहुत दुःखी हुई। किन्तु वज्रजंघने उसे शान्त किया और उसके साथ परामर्श करके चलनेका निश्चय किया तथा शीघ्र ही बड़ी भारी सेनाके साथ प्रस्थान भी कर दिया।

सेना क्रमसे चलती हुई एक सरोवरके पास पहुँची और उसने वहीं पड़ाव डाल दिया। जबतक सेनाके ठहरनेकी सब व्यवस्था हुई तबतक वज्रजंघ भी अपने शीघ्रगामी घोड़ेपर वहाँ आ पहुँचे। मार्गकी धूलि और सूर्यके तापसे उनका मुख विवर्ण हो रहा था। वे तुरन्त ही अपने पटमण्डपमें चले गये और सरोवरकी लहरोंसे होकर बहनेवाली शीतल वायुसे मार्गका श्रम दूर करने लगे।

इतनेमे दमधर और सागरसेन नामके दो मुनिराज आकाश-मार्गसे विहार करते हुए वज्रजंघके पड़ावपर पधारे। दोनों मुनियोंने वनमें ही आहार ग्रहण करनेकी प्रतिज्ञा की थी इसलिये वे चर्याके लिये वज्रजंघके डेरेपर पधारे। मुनियोंको देखते ही वज्रजंघ तुरन्त उठे और उन्हें विधिवत् पड़गाहा। फिर रानी श्रीमतीके साथ विशुद्ध परिणामोसे नवधा-भक्ति-पूर्वक आहार दिया। फलस्वरूप पञ्च आश्चर्य हुए।

भोजन कर चुकनेके पश्चात् वज्रजंघने मुनिराजसे पूछा—हे नाथ! ये मतिवर, आनन्द, धनमित्र और अकम्पन मुझे अपने भाईके समान प्रिय हैं, मैं इनके पूर्वभवोंका वृत्तान्त जानना चाहता हूँ। मुनिराज कहने लगे—'राजन्! इसी जम्बूद्वीपके पूर्वविदेह क्षेत्रमें वत्सकावती नामका देश है। उसमे एक प्रभाकरी नामकी नगरी है। यह मतिवर पूर्वजन्ममें उसी नगरीमें अतिगृध्र नामका राजा था। वह अत्यन्त विषयी था। उसने बहुत आरम्भ और बहुत परिग्रहके कारण नरकायुका बन्ध किया और मरकर चौथे नरकमें उत्पन्न हुआ। पूर्वजन्ममें उसने प्रभाकरी नगरीके समीप एक पर्वतपर बहुत-सा धन गाड़ रखा था। अतः वह नरकसे निकलकर उसी पर्वतपर व्याघ्र हुआ।

एक दिन प्रभाकरी नगरीका राजा प्रीतिवर्धन अपने छोटे भाईको जीतकर लौटा और उसी पर्वतपर ठहरा। वह वहाँ अपने छोटे भाईके साथ बैठा हुआ था इतनेमें पुरोहितने आकर कहा कि आज यहाँ आपको मुनिदानके प्रभावसे बड़ा लाभ होनेवाला है। समस्या केवल यह है कि मुनिराज यहाँ कैसे प्राप्त हो सकेंगे? इसका उपाय मैं आपको बतलाता हूँ—'नगरमें यह घोषणा करा दी जावे कि आज राजाके लिये बड़े हर्षका अवसर

है अतः समस्त पुरवासी अपने-अपने घरोंको सजायें और घरोंके आँगनमें तथा मार्गमे सर्वत्र जल छिड़ककर इस प्रकार फूल बखेर दें कि जरा-सी भी जमीन दिखलाई न दे। ऐसा करनेसे नगरमे जानेवाले मुनि नगरमें न जाकर चर्याके लिये यहां अवश्य ही आयेंगे।'

पुरोहितके वचनोंसे सन्तुष्ट होकर राजा प्रीतिवर्धनने वैसा ही किया और पिहितास्रव नामके मुनिराज एक महीनेके उपवासके पश्चात् पारणाके लिये वहाँ पधारे। राजाने उन्हें विधिपूर्वक आहार दिया। जिससे वहाँ पञ्च आश्चर्य हुए।

राजा अतिगृद्धके जीव सिंहने भी यह सब देखा, इससे उसे पूर्वजन्मका स्मरण हो आया। वह तुरन्त ही शान्त हो गया और परिग्रह तथा कषायको त्यागकर एक शिला तलपर बैठ गया। अवधिज्ञानी मुनिराजकी दृष्टि अकस्मात् उस सिंहपर पड़ी और वे तुरन्त ही उसका सब वृत्तान्त जान गये। उन्होंने राजा प्रीति-वर्धनसे कहा—'राजन्! इस पर्वतपर एक श्रावक समाधिमरण कर रहा है तुम्हे उसकी सेवा करनी चाहिये। वह भविष्यमे भरतक्षेत्रके प्रथम तीर्थङ्कर श्री ऋषभदेवका चक्रवर्ती पुत्र होगा। और उसी भवसे मोक्ष प्राप्त करेगा।'

मुनिराजके वचन सुनकर राजा प्रीतिवर्धनको बड़ा आश्चर्य हुआ और वह इधर-उधर देखने लगा कि कौन श्रावक वहाँ समाधि धारण किये हुए है। किन्तु उसे कोई भी दृष्टिगोचर नहीं हुआ। तब मुनिराज राजाके साथ सिंहके समीप गये। राजाने सिंहकी सेवा की और मुनिराजने उसके कानमें नमस्कार मंत्र सुनाया। अट्ठारह दिनतक निराहार रहकर उस सिंहने समाधिपूर्वक शरीर छोड़ा और दूसरे स्वर्गमें दिवाकर नामका देव हुआ।

इस आश्चर्यको देखकर राजा प्रीतिवर्धनके सेनापति, मंत्री और पुरोहित भी बहुत प्रभावित हुए। सभीने राजाके पात्रदानकी सराहना की। इससे वे मरकर उत्तम भोग-भूमिमें उत्पन्न हुए और फिर वहाँसे मरकर दूसरे स्वर्गमें देव हुए।'

इतना कहकर मुनिराज वज्रजंघसे बोले—राजन्! जब आप स्वर्गमें ललिताङ्गदेव थे तब ये सब आपके ही परिवारके देव थे। सिहका जीव वहाँसे चयकर आपका मतिवर नामका मत्री हुआ है। राजा प्रीतिवर्धनके सेनापतिका जीव स्वर्गसे चयकर आपका अकम्पन नामका सेनापति हुआ है। मंत्रीका जीव स्वर्गसे चयकर आपका आनन्द नामक पुरोहित हुआ है। तथा पुरोहितका जीव स्वर्गसे चयकर आपका धनमित्र नामका श्रेष्ठि हुआ है।'

जिस समय उस वनमें राजा वज्रजंघ मुनिराजके मुखसे उक्त वृत्तान्त सुनते थे उसी समय एक नेवला, एक सिह, एक बन्दर और एक शूकर भो मुनिकी ओर दृष्टि लगाये चुपचाप बैठे हुए थे। उन्हें देखकर वज्रजंघने पुनः मुनिराजसे पूछा—'महाराज! ये चारों जीव मनुष्योंसे भरे हुए इस स्थानमें भी कैसे निर्भय बैठे हुए हैं और आपके मुखकी ओर निहारते हैं? मुनिराज बोले—

राजन्! पूर्वजन्ममें यह सिंह हस्तिनापुर नामक नगरमें उग्रसेन नामक वैश्यपुत्र था। उग्रसेन स्वभावसे ही अत्यन्त क्रोधी था। एक दिन उसने राजाके भण्डारियोंको घुड़ककर भण्डारसे बहुत-सा घी और चावल निकालकर वेश्याओंको दे दिया। जब राजाने सब समाचार सुना तो उसने इसे खूब पिटवाया। उससे मरकर यहाँ यह व्याघ्र हुआ है। और यह सूकर, पूर्वजन्ममें राजपुत्र था। किन्तु बड़ा उद्धत और अविनयी था और अपने माता-पिताका भी कहना नहीं मानता था। एक दिन यह दौड़ा जा रहा था

कि पत्थरके खम्भेसे टकराकर इसका सिर फट गया और मरकर यह सूकर हुआ है। तथा यह बन्दर, पूर्वजन्ममें नागदत्त नामका वणिकपुत्र था। नागदत्त बडा धूर्त और पक्का ठग था। एक बार उसकी माता नागदत्तकी छोटी बहनके विवाहके लिए अपनी दूकानसे कुछ सामान ले रही थी। नागदत्तने उसे भी ठगना चाहा, परन्तु कोई उपाय उसकी समझमें नहीं आया और वह इसी उधेड़बुनमें मरकर यह बन्दर हुआ है। और यह नेवला पूर्वजन्ममे इसी नगरमे एक हलवाई था। वह बड़ा लोभी था। एक बार वहाँके राजाने जिन मन्दिर बनवाया। उसके लिये मजदूर लोग ईंट लाया करते थे। लोभी हलवाई मिठाईका लालच देकर मजदूरोंसे कुछ ईंटे अपने घर डलवा लेता था। उनमेसे कुछ ईंटें टूट गईं और उसके अन्दरसे सोना निकला। अब तो हलवाईका लोभ और भी बढ़ा और वह छिपाकर मजदूरोंसे खूब ईंटे अपने घर डलवाने लगा। एक दिन उसे दूसरे गाँवको जाना पड़ा। जाते समय वह पुत्रसे कह गया कि मजदूरोंको मिठाई देकर ईंटें घरमें डलवा लेना। किन्तु पुत्रने वैसा नहीं किया। जब हलवाई लौटकर घर आया और उसे मालूम हुआ कि पुत्रने उसका कहना नहीं किया तब वह बड़ा क्रुद्ध हुआ। उसने गुस्सेमे पुत्रका सिर फोड़ डाला और अपने पैर भी इसलिये तोड़ डाले कि ये चलते न होते तो मुझे आज इतनी ईंटोंकी हानि न उठानी पड़ती। अन्तमे वह राजाके द्वारा पकड़ा जाकर मारा गया और मरकर यह नेवला हुआ है।'

इतना कहकर मुनिराज वज्रजंघसे बोले—राजन्! आपके दानको देखकर ये चारो ही बहुत प्रसन्न है और इन चारोंको ही पूर्वजन्मका स्मरण हो आया है जिससे ये बहुत उदासीन हैं। इससे आगामी आठवे भवमे जब तुम ऋषभदेव तीर्थङ्कर होकर

मोक्ष प्राप्त करोगे तब ये सब भी मोक्ष प्राप्त करेंगे। आपकी रानी श्रीमतीका जीव भी तब राजा श्रेयांस होकर उसी जन्ममें मोक्ष प्राप्त करेगा।

यह सब वृत्तान्त सुनकर राजा वज्रजंघ अत्यन्त प्रसन्न हुआ। उसने मुनिराजको अत्यन्त भक्तिके साथ नमस्कार किया और दोनों मुनि आकाशमार्गसे विहार कर गये।

राजा वज्रजंघने अपनी सेनाके साथ उस दिनका शेष भाग उसी सरोवरके किनारे विताया। पश्चात् वहांसे चलकर पड़ावपर पड़ाव करते हुए पुण्डरीकणी नगरी पहुँचे। शोकसे पीड़ित रानी लक्ष्मीमती अपने जामाता और पुत्रीको देखकर कुछ आश्वस्त हुई। वज्रजंघने कुछ दिन रहकर बालक पुण्डरीकके राज्यको निष्कण्टक कर दिया और फिर अपने नगरमें लौट आया।

एक दिन वज्रजंघ रानी श्रीमतीके साथ अपने शयनागारमें कोमल शय्यापर शयन करता था। शयनागारमें सुगन्धित धूप जल रहा था। उस दिन सेवकगण झरोखोंके द्वार खोलना भूल गये। अतः धुआँ उसी शयनागरमें रुक गया। उससे उन दोनोंके श्वास रुक गये और दोनों महानिद्रामें लीन हो गये। जो धूप उन्हें सुखकर थी उसीसे उनकी मृत्यु हो गई, संसारकी शोचनीय स्थिति-का यह कैसा ज्वलंत उदाहरण है।

भोगभूमिमें जन्म

वज्रजंघ और श्रीमती एक साथ प्राण त्यागकर पात्रदानके प्रभावसे उत्तम भोगभूमिमें उत्पन्न हुए। एक दिन दोनों खुले हुए आकाशके नीचे बैठे थे। इतनेमें उन्होंने दो चारण मुनियोंको आते हुए देखा। दोनों मुनि आकाशसे उतरे। उन्हें देखते ही वज्रजंघका जीव अपनी स्त्रीके साथ उठ खड़ा हुआ और दोनों मुनिराजोंको

नमस्कार किया। जब दोनों मुनि उन्हें आशीर्वाद देकर यथास्थान बैठ गये तो वज्रजंघका जीव बोला—भगवन्! आप कहाँके रहने वाले हैं और कहाँसे आ रहे हैं? आपके दर्शनसे मेरा चित्त बहुत ही प्रसन्न हुआ है और ऐसा मालूम होता है कि आप मेरे परिचित बंधु हैं।

ज्येष्ठमुनि कहने लगे—आर्य! जब आप महाबल थे तब मैं आपका स्वयबुद्ध नामका मंत्री था। वहांसे मरकर मैं प्रथम स्वर्गमे देव हुआ। पश्चात् स्वर्गसे चयकर यह मानव जन्म पाया है। यह महातपस्वी मेरा छोटा भाई है। हम दोनों भाइयोंने दीक्षा लेकर तपोबलसे अवधिज्ञान तथा आकाशगामिनी ऋद्धि प्राप्त की है। हमने अवधिज्ञानसे जाना कि आप यहां उत्पन्न हुए हैं। आपको समझानेके लिये ही यहां आये हैं। आप केवल पात्रदानके फलसे ही यहां उत्पन्न हुए हैं। महाबलके भवमे भी आपने हमसे केवल तत्त्वज्ञान प्राप्त किया था परन्तु भोगोंकी आकांक्षाके कारण सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति नहीं हो सकी थी। अब हम दोनों मोक्षके प्रधान कारण सम्यग्दर्शनमे निमित्त होनेके लिये ही यहां आये हैं। आज आप सम्यक्त्वको ग्रहण करें, यही उसके ग्रहण करनेका समय है। क्योंकि काललब्धिके बिना जीवोको सम्यक्त्वकी प्राप्ति नहीं होती। वीतराग सर्वज्ञदेव, उनके द्वारा प्रतिपादित आगम और उस आगममे कहे गये जीवादि तत्त्वोंका निष्ठापूर्वक श्रद्धान करना ही सम्यग्दर्शन है। यह सम्यग्दर्शन ही सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रका मूल कारण है। बिना सम्यग्दर्शनके सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चरित्र नहीं हो सकते। पदार्थके यथार्थ रूपका दर्शन करानेवाला सम्यग्दर्शन ही धर्मका सर्वस्व है। वही मोक्षरूपी महलकी पहली सीढ़ी है, और धर्मरूपी वृक्षकी जड़ है। जो पुरुष अन्तर्मुहूर्तके लिये भी सम्यग्दर्शन प्राप्त कर लेता है वह संसार

रूपी वृक्षकी जड़को काट डालता है। इसलिये हे आर्य! अर्हन्त देवकी आज्ञाको प्रमाण मानकर तुम सम्यग्दर्शनको स्वीकार करो।'

इस प्रकार मुनिराजके धर्मोपदेशसे प्रभावित होकर दोनों स्त्री-पुरुषोंने प्रसन्नतापूर्वक सम्यकत्वको ग्रहण किया। पश्चात् वे दोनों मुनि वहांसे जानेके लिये उठे। वज्रजंघ और श्रीमतीके जीवने उन्हे नमस्कार किया। चलते समय दोनों मुनियोंने उन्हें आशीर्वाद दिया और कहा—आर्य! इस सम्यग्दर्शनरूपी समीचीन धर्मको कभी नहीं भूलना। इतना कहकर दोनों आकाश-गामी मुनि शीघ्र ही वहांसे विहार कर गये।

मुनियोंके चले जानेके पश्चात् भी दोनों उन्हींके विचारोंमें लीन रहे। वे सोचने लगे कि देखो, इन महापुरुषोंने कितनी दूरसे आकर हम लोगोंका उपकार किया है। सच है महापुरुष दूसरोंका उपकार करनेमें सदा तत्पर रहते है।

श्रीधर देव

भोगभूमिकी आयु पूरी होने पर वज्रजंघका जीव ऐशान स्वर्ग-में श्रीधर नामका देव हुआ। और श्रीमतीका जीव सम्यग्दर्शनके प्रभावसे स्त्रीलिंगको छेदकर उसी स्वर्गमें स्वयंप्रभ नामका देव हुआ। सिंह, नकुल, बन्दर और शूकरके जीव भी उसी स्वर्गमें देव हुए।

एक दिन श्रीधरदेवको ज्ञात हुआ कि हमारे गुरु प्रीतिंकर मुनिराजको, जिन्होंने भोगभूमिमें जाकर उसे सम्यक्त्व ग्रहण कराया था, केवलज्ञान हुआ है। वह तुरन्त ही उनकी पूजाके लिये उत्तम सामग्री लेकर उनके पास पहुँचा और पूजा करनेके पश्चात् नमस्कार करके उनसे पूछा—प्रभो! महाबलके भवमें जो

मेरे तीन मंत्री थे वे आज कल कहां है ? केवली बोले—उन तीनों- में से दो तो निगोदमें हैं तथा शतमति मंत्री नरकमें है।

यह सुनते ही श्रीधरदेव नरकमे शतमतिके जीवको समझाने गया। श्रीधरके उपदेशसे शतबुद्धिके जीवने सम्यक्त्व ग्रहण किया और नरककी आयु पूरी करके वह राजपुत्र हुआ। जब उसका विवाह हुआ तो उसी समय श्रीधरदेवने आकर उसे पुनः समझाया और उसने विरक्त होकर जिनदीक्षा धारण कर ली। आयु पूरी होनेपर वह स्वर्गमें देव हुआ और उसने अपने परोपकारी मित्र श्रीधरदेवकी कृतज्ञता प्रदर्शित करते हुए पूजा की।

सुविधि

श्रीधरदेव स्वर्गसे च्युत होकर, महावत्स देशके सुसीमा नगरमें सुदृष्टि राजाकी नन्दा नामकी 'रानीसे सुविधि नामका पुत्र हुआ। तरुण होनेपर अपने मामा चक्रवर्ती अभयघोपकी कन्या मनोरमाके साथ उसने विवाह किया। और स्वयंप्रभ नामका देव, जो पूर्व भवमे वज्रजंघकी रानी श्रीमती था, स्वर्गसे च्युत होकर उन दोनोंके केशव नामका पुत्र हुआ। ससारकी कैसी विचित्र स्थिति है कि जो पहले भवमे प्यारी स्त्री थी वही इस भवमें पुत्र हुआ। उस पुत्रपर राजा सुविधिका अत्यन्त प्रेम था। जबकि पुत्र मात्रसे प्रीति होती है तब यदि अपने पूर्वजन्मका कोई प्रेमी मरकर पुत्र हुआ हो तब तो कहना ही क्या है।

सिंह, नकुल, वन्दर और शूकरके जीव भी स्वर्गसे च्युत हो- कर इसी वत्सकावती देशमे राजपुत्र हुए और अपने योग्य राज्य लक्ष्मी पाकर न्यायपूर्वक प्रजाका पालन करने लगे। एक बार वे चारों ही राजा चक्रवर्ती अभयघोपके साथ जिनेन्द्रदेवकी वन्दनाके लिए गये और सभीने विरक्त होकर जिनदीक्षा धारण करली।

तथा सब कठिन तपस्या करने लगे। किन्तु राजा सुविधि अपने पुत्र केशवके स्नेहवश जिनदीक्षा नहीं ले सका और वह घरमे रह कर ही कठिन व्रतोंका पालन करने लगा। जब जीवनका अन्त समय आया, उसने समस्त परिग्रह्को त्यागकर समाधिमरण पूर्वक शरीरको छोड़ा और अच्युत नामके सोलहवें स्वर्गमें इन्द्र हुआ। सुविधिका पुत्र भी निर्ग्रन्थ दीक्षा धारण करके उसी स्वर्गमे प्रतीन्द्र हुआ। तथा बन्दर आदिके जीव वे चारों राजा भी मरकर १६वे स्वर्गमे ही देव हुए।

अच्युतेन्द्र

वह अच्युतेन्द्र अपने स्वर्गमें दिव्य भोगोंको भोगता था और जिनेन्द्रदेवकी पूजा किया करता था। जब उसकी आयु पूरी होनेमे छै माह शेष रह गये तो एक दिन उसके कण्ठमे पड़ी हुई पुष्प-माला अचानक मुरझा गई। मालाके मुरझानेसे इन्द्रको यह मालूम होगया कि अब मैं यहांसे प्रस्थान करनेवाला हूँ। किन्तु इससे वह तनिक भी खेदखिन्न नही हुआ। और अपना चित्त जिनेन्द्रदेवकी पूजा तथा पंचपरमेष्ठीके चिन्तनमे लगाया। जो लोग स्वर्गकी प्राप्तिके लिए लालायित रहते हैं स्वर्गसे च्युत होनेका समय आनेपर वे अधीर हो उठते हैं। किन्तु जो स्वर्गके सुखको भी हेय समझते हैं वे ऐसे समयमें भी अपनी अधीरताको नहीं छोड़ते।

सम्राट वज्रनाभि

सोलहवें स्वर्गसे च्युत होकर अच्युतेन्द्र, पुष्पकलावती देशकी पुण्डरीकणी नगरीमें राजा वज्रसेन और रानी श्रीकान्ताके वज्र-नाभि नामका पुत्र हुआ। तथा पूर्वोक्त व्याघ्र आदिके जीव भी उन्हीं राजा रानीके विजय, वैजयन्त, जयन्त और अपराजित नाम-

के पुत्र हुए। वज्रजंघके भवमें जो उसके मतिवर मंत्री, आनन्द पुरोहित, अकंपन सेनापति और धनमित्र सेठ थे वे भी मरकर वज्रनाभिके भाई हुए। श्रीमतीका जीव केशव, जो अच्युत स्वर्गमें प्रतीन्द्र हुआ था, वह वहांसे च्युत होकर उसी नगरीमें कुबेरदत्त वणिक्के उसकी स्त्री अनन्तमतीसे धनदेव नामका पुत्र हुआ।

जब वज्रनाभि पूर्ण युवा हुआ तो उसका शरीर तपाये हुए सोनेकी तरह दमक उठा। किन्तु उसने अच्छे अच्छे शास्त्रोंका अभ्यास किया था इसलिये यौवन आनेपर भी उसमे कामज्वरका प्रकोप नहीं हो सका। वह राजा विद्याओंमे भी अति निपुण था और इस तरह लक्ष्मी और सरस्वती दोनो ही उसमें अनुरक्त थी। उसका मनोहर रूप, खिलती हुई युवावस्था और विद्याको देखकर सभी उसकी ओर आकृष्ट होते थे।

पिताने उसे राज्यभारको वहन करनेमें समर्थ जानकर अपने ही सामने बड़े ठाटबाटसे उसका राज्याभिषेक कराया और उसे शुभाशीर्वाद देकर जिनदीक्षा धारण करली। उधर वज्रसेनने जिनदीक्षा लेकर तीर्थङ्कर पद प्राप्त किया और इधर उनके पुत्र वज्रनाभिने चक्ररत्न लेकर चक्रवर्ती पद प्राप्त किया। पिताने कर्मोंकी सेनापर विजय पाई तो पुत्रने शत्रुओंकी सेनापर विजय पाई।

एक दिन चक्रवर्ती वज्रनाभि अपने पिता वज्रसेन तीर्थङ्करके समवसरणमे गये। उनके मुखसे रत्नत्रयका स्वरूप जानकर, उन्होने सम्पूर्ण साम्राज्यको तृणकी तरह छोड़ देनेका विचार किया। और तुरन्त ही अपने पुत्रको राज देकर तीर्थङ्करके समीप जिनदीक्षा धारण करली।

दीक्षा लेनेपर वज्रनाभिने जीवन पर्यन्तके लिये हिंसा, झूठ, चोरी, स्त्रीसेवन और परिग्रहरूपी पांचो पापोंका मन, वचन और

कायसे त्याग किया। और उत्कृष्ट तपस्वी होकर एकाकी विहार करने लगे। अपने पिता तीर्थंकर वज्रसेनके पादमूलमे उन्होंने उन सोलहकारण भावनाओंका चिन्तन, मनन और पालन किया, जिनसे तीर्थङ्कर पदकी प्राप्ति होती है। अर्थात् मुनिराज वज्रनाभिने दोषरहित शुद्ध सम्यग्दर्शन धारण किया, विनयगुणको अपनाया, शील और व्रतोंमें कभी भी दूषण नहीं लगाया, वे निरन्तर ज्ञानाभ्यासमे लगे रहते थे, संसारमें उनकी कोई रुचि नहीं थी, अपनी शक्तिको न छिपाकर सदा तपश्चरण करते थे, त्याग ही उन्हें प्रिय था, अन्य साधुजनोंके आत्मकल्याणमें कोई बाधा उपस्थित होनेपर उसको दूर करनेमें सदा तत्पर रहते थे, किसीको रोग आदि हो जानेपर उसकी सेवा सुश्रुषा प्रेमपूर्वक करते थे, भगवान अरहन्त, आचार्य तथा ज्ञानी मुनियोंके बड़े भक्त थे। सच्चे शास्त्रोंके अनुरागी थे, सामायिक, वन्दना, स्तुति, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान और कायोत्सर्ग इन छै आवश्यक कर्तव्योंमें कभी भी हानि नहीं आने देते थे, पूर्णरूपसे प्रतिदिन यथा समय इनका पालन करते थे। मोक्षमार्गकी प्रभावना करते रहते थे और धर्मात्माओंसे अत्यन्त स्नेह करते थे।

इन सोलह भावनाओंसे उन्होने तीर्थङ्कर नामक महापुण्यकर्मका बन्ध किया। और जब आयुका अन्त समय आया तो सन्यास धारण करके शरीर और आहारका ममत्व भी छोड़ दिया। वे अपने शरीरकी सेवा न तो स्वयं ही करते थे और न किसी दूसरेसे ही कराते थे। इससे यद्यपि उनके शरीरमे केवल हाड़ और चाम ही शेष रह गया था, फिर भी वे निश्चलचित्तसे ध्यानारूढ़ थे। अन्तमें उन्होंने ग्यारहवे गुणस्थानमे प्राणोंको त्यागकर सर्वार्थसिद्धि नामक विमानमे जन्म लिया।

अहमिन्द्र

वह सर्वार्थसिद्धि नामक विमान ऊपर लोकके अन्तिम भागसे बारह योजन नीचा है। इसमें जन्म लेनेवाले जीवोंके सब मनोरथ अनायास ही पूरे हो जाते हैं इसीलिए इसे सर्वार्थसिद्धि कहते हैं। सर्वार्थसिद्धिमे ऐसा कोई एक इन्द्र नहीं होता जो अन्य देवताओं-का स्वामी माना जाता है, बल्कि वहाँका प्रत्येक देव अपनेको इन्द्रके तुल्य मानता है इसलिए उन्हें अहमिन्द्र कहते है। उन अहमिन्द्रोमे परस्परमें न तो ईर्ष्या होती है और न कोई अपनी प्रशंसा तथा दूसरोंकी निन्दा करता है। अतः वे सब परस्परमें बड़े प्रेमसे रहते हैं और धर्मगोष्ठियोंमे अपने समयका सदुपयोग करते हैं। उनमे स्त्री समागम नहीं है, अतः वे परम सुखी रहते हैं क्योंकि स्त्रीसंभोग मनमे मोहको पैदा करता है, शरीरमे शिथिलता लाता है, और तृष्णाको बढ़ाता है, अतः वह आकुलता-का कारण है। और आकुलताके होते हुए सुख नहीं हो सकता। अतः अहमिन्द्र बहुत सुखी होते है।

चक्रवर्ती वज्रनाभि उन्हीं अहमिन्द्रोंमें उत्पन्न हुआ। और उसके अन्य भाई भी, जो पूर्व जन्मोंमे उसके साथी वगैरह थे, मरकर उसी सर्वार्थसिद्धिमे अहमिन्द्र हुए। सब बहुत शान्ति-के साथ अपना समय बिताते थे।

---o---

३. ऋषभदेवका गर्भावतरण

इस भरत क्षेत्रमें भोगभूमिकी अवस्था बदलनेका तथा कर्म भूमिकी व्यवस्था आरम्भ होनेका वर्णन पहले किया है। तथा उस समयमें कुलकरोंकी उत्पत्ति भी बतलाई है। उन कुलकरोंमे अन्तिम कुलकर नाभिराज थे। वही उस समयके प्रमुख पुरुष थे, और इसी भरत क्षेत्रके आर्य खण्डके मध्यमें उनका वासस्थान था। उनके मरुदेवी नामकी पत्नी थी। रूप, सौन्दर्य, कान्ति, बुद्धि आदि सद्गुणोंसे वह इन्द्राणीके समान प्रतीत होती थी। वह नाभिराजको प्राणोंसे भी अधिक प्रिय थी और वे सदा उसकी सम्मतिका आदर करते थे।

जब तक यहाँ भोगभूमि थी तब तक ग्राम नगर आदिकी रचना नहीं थी। जब कर्मभूमिकी व्यवस्था चालू हुई तो नगरोंकी रचनाका भी आरम्भ हुआ। सबसे प्रथम अयोध्या नगरीकी रचना हुई। उसके मध्यमें राजमहल था। महाराज नाभि अपनी पत्नीके साथ इस महलमें निवास करने लगे। और जहां तहां बिखरे हुए मनुष्य वहां आ आकर बसने लगे।

अचानक एक दिन उस नगरीमें आकाशसे सुवर्णकी वर्षा होने लगी। यह देखकर जनसमूह अचरजमें पड़ गया और सोचने लगा कि क्या पृथिवीकी तरह स्वर्गमें भी उलटफेर हो गया है? फिर तो प्रतिदिन सोना बरसने लगा। जब सोना बरसते २ छै मास बीते तो एक दिन मरुदेवी राजभवनमें कोमल शय्यापर सोई हुई थी। उसने रात्रिके पिछले पहरमें सोलह स्वप्न देखे। सबसे पहले उसने ऐरावत हाथी देखा। उसके गण्डस्थलसे मद झर रहा

था और वह जोरसे चिंघाड़ रहा था। फिर उसने सफेद बैल देखा। वह भी गम्भीर शब्द कर रहा था। फिर एक सफेद सिंह देखा। फिर कमलासनपर विराजमान लक्ष्मीको देखा। हाथी उस लक्ष्मीका अभिषेक कर रहे थे। फिर दो पुष्पमालाएँ देखीं, जिन-पर भौंरे गुंजार करते थे। फिर तारा सहित पूर्ण चन्द्रमा देखा। फिर उदित होते हुए सूर्यको देखा। फिर दो सुवर्ण कलशोंको देखा, उनके मुख कमलोंसे ढके हुए थे। नौवें स्वप्नमें तालाबमें क्रीड़ा करती हुई मछलियां देखीं। दसवे स्वप्नमें एक सुन्दर तालाब देखा। फिर लहरें मारते हुए समुद्रको देखा। फिर सोनेका एक सिंहासन देखा। फिर एक स्वर्गीय विमान देखा। फिर पृथ्वीको भेदकर ऊपर आया हुआ स्वर्गका विमान देखा। और सोलहवें स्वप्नमे धूमरहित अग्नि देखी। इन सोलह स्वप्नोंके पश्चात् मरुदेवीने सुवर्णके समान पीली कान्तिवाले एक ऊंचे बैलको अपने मुखमें प्रवेश करते हुए देखा।

इन स्वप्नोंको देखनेके पश्चात् मांगलिक शब्द सुनकर मरुदेवी जग गई और शुभ स्वप्नोंको स्मरण करके पुलकित हो उठी। उस समय उसके आनन्दका पार नहीं था। उसने तुरन्त ही स्नान किया और वस्त्राभूषण पहिनकर अपने पतिके पास पहुँची और बोली—देव! आज मैं सुखसे सो रही थी। सोते हुए रात्रिके पिछले पहरमे मैंने ये सोलह स्वप्न देखे हैं आप इन स्वप्नोंके फल मुझे बतलायें।

महाराज नाभि कहने लगे—देवि सुनो, तुम्हें सोलह स्वप्नोंका फल क्रमसे बतलाता हूँ—तुम्हारे एक उत्तम पुत्र होगा, वह समस्त लोकमे श्रेष्ठ होगा, अनन्तबलसे युक्त होगा. धर्मतीर्थका प्रवर्तक होगा, सुमेरुपर्वतके ऊपर लेजाकर देवता उसका अभिषेक करेंगे, समस्त लोगोंको वह आनन्द देनेवाला होगा, बड़ा प्रतापी होगा,

अनेक निधियोंका स्वामी होगा, बड़ा सुखी रहेगा, अनेक लक्षणों-से शोभित होगा, केवल ज्ञानी होगा, जगत्‌का गुरु होकर साम्राज्य प्राप्त करेगा, स्वर्गसे अवतरित होगा, जन्मसे अवधिज्ञानी होगा, और अन्तमें अग्निकी तरह कर्मरूपी ईंधनको जलाकर मुक्त होगा।

नाभिराजके वचन सुनकर रानी मरुदेवीका शरीर हर्षसे गद्गद हो गया। उसने प्रसन्नतापूर्वक पतिको नमस्कार किया और अन्तः-पुरमें लौट आई। उस समय अवसर्पिणीके तीसरे सुषमादुषमा नामक कालमें चौरासी लाख पूर्व, तीन वर्ष और साढ़े आठ माह-का समय शेष था। आसाढ़ शुक्ला द्वितीयाका दिन था, उत्तराषाढ़ नक्षत्र था। तब अहमिन्द्र वज्रनाभि सर्वार्थसिद्धि विमानसे च्युत होकर मरुदेवीके गर्भमें अवतरित हुए। उस अवसरपर प्रकट होनेवाले चिन्होंसे भगवान्‌के गर्भावतरणका समय जानकर सब इन्द्र नाभिराजके राजमहलमें पधारे। राजमहलका आंगन देवोंसे खचाखच भर गया। सबसे प्रथम सौधर्मस्वर्गके इन्द्रने अपने देवों-के साथ संगीत आरम्भ किया। फिर तो गीत, नृत्य और वादित्रों-की ध्वनिसे सारी नगरी मुखरित हो उठी।

---

४. जन्म और बचपन

इन्द्रके आदेशसे श्री, ह्री, धृति, कीर्ति, बुद्धि और लक्ष्मी नामकी देवियोंने गर्भवती मरुदेवीकी सेवाका भार अपने ऊपर ले लिया। सेवा करती हुई वे देवियां ऐसी प्रतीत होती थीं, मानों मरुदेवीके श्री (शोभा), ह्री (लज्जा), धृति (धैर्य), कीर्ति (यश), बुद्धि और लक्ष्मी नामक गुणोंने ही देवियोंका रूप धारण करके सेवाका व्रत अंगीकार किया है।

उन देवियोंमे कोई तो गर्भवती मरुदेवीको स्नान कराती थी, कोई वस्त्राभूपण पहनाती थी, कोई सुगन्धित पुष्पमालाएँ गूँथकर पहनाती थी, कोई भोजन कराती थी, कोई पान खिलाती थी, कोई शय्या बिछाती थी और कोई पैर दबाती थी। वे देवियां कभी जलक्रीड़ासे, कभी बनक्रीड़ासे, कभी कथावार्तासे, कभी सगीत गोष्ठीसे और कभी नृत्यगोष्ठीसे माताका मनोरजन करती थी। इस तरह वे देवियां बड़े ही प्रेमसे माताकी सेवा करती थीं। उनके आमोद-प्रमोदसे नौ मास नौ क्षणकी तरह बीत गए। किन्तु महाराज नाभि बड़ी उत्सुकताके साथ पुत्रजन्मकी प्रतीक्षा कर रहे थे, फिर भी उन्होने नौ मासका समय धीरतापूर्वक बिताया।

कहावत है कि सन्तोषका फल मीठा होता है। महाराज नाभि के भी सन्तोषरूप वृक्षमे अत्यन्त मिष्ट फल फला। जैसे प्रातः-कालके समय पूर्वदिशा कमलोंको विकसित करनेवाले तेजस्वी सूर्यको जन्म देती है वैसे ही चैत्रकृष्णा नवमीको सूर्योदयके समय, उत्तराषाढ़ नक्षत्रमें मरुदेवीने एक तेजस्वी पुत्रको जन्म दिया। पुत्र-का जन्म होते ही आकाश निर्मल होगया, दिशाएँ स्वच्छ होगई, प्रजाके हर्षका पारावार नहीं रहा, देवलोकमें भी आश्चर्यजनक घटनाएँ होने लगीं, कल्पवृक्ष फूल बरसाने लगे, बिना बजाये ही दुन्दुभि बजने लगी, शीतल मन्द सुगन्धित वायु बहने लगी, पृथिवी कम्पित हो उठी, समुद्र लहराने लगा और इन्द्रासन कांप उठा।

अपने आसनको कम्पित देखकर क्षणभरके लिये इन्द्र भी भय-से विचलित हो उठा। किन्तु तत्काल ही उसे अपने अवधिज्ञानसे मालूम हो गया कि भरत क्षेत्रमें प्रथम तीर्थङ्करका जन्म हुआ है। फिर तो वह आनन्दसे फूल उठा और उसने सिंहासनसे उतरकर

बाल जिनेन्द्रको परोक्ष नमस्कार किया तथा उनका जन्माभिषेक करनेका संकल्प किया।

इन्द्रकी आज्ञा पाते ही देवगण स्वर्गसे चल दिये। सबसे आगे सौधर्म इन्द्र अपनी इन्द्राणीके साथ ऐरावत हाथीपर सवार होकर निकला। पश्चात् सामानिक, त्रायस्त्रिंश, पारिषद्, आत्मरक्ष, और लोकपाल जातिके देव इन्द्रको चारों ओरसे घेरकर चले। उनके पीछे जयजयकार करती हुई देवसेना चली। शीघ्र ही सब अयोध्या नगरीमें जा पहुंचे। देवगण तो अयोध्याके चारों ओर फैल गये और इन्द्र महाराज नाभिके आंगनमे उतरा। पश्चात् इन्द्राणीने प्रसूतिगृहमे प्रवेश करके बालकके साथ ही साथ माताके दर्शन किये। और माताको निद्रित करके बालक जिनको उठा लिया तथा उसके स्थानपर एक मायामयी बालक रख दिया। बालकके शरीरका स्पर्श पाकर इन्द्राणी ऐसी सुखी हुई मानो तीनों लोकोंकी निधि उसे प्राप्त हुई है। वह बार २ बालकके मुखको निहारती थी, बार २ उसका आलिगन करती थीं और बार बार उसके सिरको सूंघती थी। जब इन्द्राणी बालकको गोदमें लेकर चली तो वह ऐसी प्रतीत होती थी, मानों बालसूर्यको गोदमें लिए हुए पूर्व दिशा ही है।

बाहर आकर इन्द्राणीने बालक जिनको इन्द्रके हाथोमें दे दिया। इन्द्राणीके हाथोंसे आदर सहित बालकको लेकर इन्द्र हर्षसे उन्मत्त हो गया और उसका सुन्दर रूप निहारने लगा। निहारते निहारते वह ऐसा मग्न हुआ कि उसे कुछ सुध बुध नहीं रही। तब इन्द्राणीने उसे सावधान किया और उसने हाथ उठाकर चलनेका संकेत किया।

इन्द्रका संकेत पाते ही देवगण जय जयकार करते हुए ऊपरकी ओर चल पड़े। और सौधर्म इन्द्र बालकको अपनी गोदमें

लेकर ऐरावत हाथीपर बैठ गया, ईशान स्वर्गके इन्द्रने बालकपर छत्र तान लिया और सनत्कुमार तथा माहेन्द्र स्वर्गके इन्द्र बालकके दोनों ओर चमर ढोरने लगे।

क्रमसे ज्योतिष पटलको लांघकर वे सुमेरुपर्वतपर जा पहुँचे। सबने बडे प्रेमसे गिरिराजकी प्रदक्षिणा दी और फिर पाण्डुक शिलाके ऊपर बाल जिनको विराजमान कर दिया। बाल जिनके जन्माभिषेकको देखनेके लिये सभी देव उत्कण्ठित थे अतः वे पाण्डुक शिलाको घेरकर बैठ गये, जिन्हें वहाँ स्थान नहीं मिल सका वे मेरुपर्वतके ऊपर आकाशमें जा बिराजे।

जैसे ही अभिषेककी तैयारियां आरम्भ हुईं, देव दुन्दुभि बजाने लगे और अप्सराएँ नृत्य करने लगीं। बहुतसे देव सुवर्णमय कलश लेकर क्षीर समुद्रका जल लानेके लिए चले। क्षीर समुद्रसे लेकर पाण्डुक शिलातक देवोंकी पंक्ति लग गई और क्षणभरमें ही देवोंके एक हाथसे दूसरे हाथमें जानेवाले जलसे भरे हुए कलशोंसे आकाश व्याप्त हो गया। जैसे ही सौधर्मेन्द्रने जय जयकार करते हुए भगवानके मस्तकपर जलकी धारा डाली, एक साथ करोडों कण्ठोंसे निकली हुई जयध्वनिसे आकाश मण्डल गूंज उठा। इसके पश्चात् सभी स्वर्गोंके इन्द्रोंने भगवानके मस्तक पर एक साथ जलकी धारा छोड़ी। उस समय भगवान्के शरीरसे उचटकर चारो ओर छिटकती हुई जलकी बूंदे ऐसी प्रतीत होती थीं, मानों वे अपने इस सौभाग्यपर हर्षित होकर ही नृत्य कर रही हैं।

जब शुद्ध जलका अभिषेक समाप्त हुआ तो इन्द्रने सुगन्धित जलसे भगवानका अभिषेक किया। अभिषेककी समाप्ति होनेपर इन्द्रने जगतकी शान्तिके लिये उच्च स्वरसे प्रार्थना की। फिर देवो-

ने उस गन्धोदकको पहले अपने मस्तकपर लगाया फिर सारे शरीरमें लगाया। उसके पश्चात् भगवानकी पूजा की।

इन्द्राणीने बालक जिनके शरीरको वस्त्रसे पोंछकर सुगन्धित द्रव्यका लेप किया, फिर वस्त्राभूषणोंसे अलंकृतकर इन्द्रकी गोदमें दे दिया। उस समय बालकका सौन्दर्य देखकर इन्द्र विमुग्ध हो गया और भक्तिभावसे स्तुति करने लगा। स्तुति कर चुकनेपर अयोध्याको लौटनेका विचार हुआ। और जिस उत्सवके साथ अयोध्यासे मेरु तक आये थे उसी उत्सवके साथ मेरुसे अयोध्या आ पहुँचे।

अयोध्या पहुँचते ही इन्द्रने भगवानको गोदमें लेकर महाराज नाभिके घरमे प्रवेश किया। उस समय नाभिराज और मरुदेवी अपने प्रियदर्शी पुत्रको देखकर अत्यन्त प्रसन्न हुए और इन्द्र इन्द्राणीको आश्चर्यभरी दृष्टिसे देखने लगे। उनके अभिप्रायको समझकर इन्द्रने जन्माभिषेककी सब कथा कही और दोनोंका खूब सन्मान करके बालकको उनके हाथोंमें सौंप दिया।

इन्द्रसे अपने पुत्रके जन्माभिषेककी कथा सुनकर माता पिता साश्चर्य आनन्दमे डूब गये और उन्हें क्षणभरके लिए कुछ भानसा नहीं रहा। इतनेमें ही पुरवासी जनोंके प्रचण्ड कोलाहलने उन्हें उद्बुद्ध किया। आनन्दसे मत्त समस्त पुरवासी गीत गाते, नृत्य करते और बाजे बजाते हुए चले आते थे। पुरवासियोंको हर्षोन्मत्त देखकर इन्द्रका अंग अंग हर्षसे फड़क उठा। उसने तुरन्त ही नृत्य करना आरम्भ किया। इन्द्रको नृत्य करते देख गन्धर्वोंने सुमधुर संगीत आरम्भ किया। फिर तो समा बँध गया और अनेक देव-देवांगनाएँ इन्द्रके साथ नृत्य करने लगीं। नृत्य करते हुए इन्द्रने अपनी दोनों भुजायें फैला रखी थीं और उन भुजाओंपर देवाङ्गनाएं नृत्य कर रही थीं। कुछ देवांगना इन्द्रकी

अंगुलियोंपर खड़ी होकर सूची नृत्यका अभिनय करती थीं तो कुछ उसकी अंगुलियोंके अग्र भागपर अपनी नाभिको रखकर फिरकीकी तरह घूम रही थीं।

महाराज नाभि तथा मरुदेवी उस आश्चर्यजनक नृत्यको देख कर बहुत ही चकित हुए। उसी समय बालकका नाम 'ऋषभ' रखा गया, क्योंकि प्रथम तो वह जगत भरमें श्रेष्ठ था, दूसरे वह श्रेष्ठ धर्मसे शोभायमान था, तीसरे माताने उसके गर्भावतरणके समय स्वप्नमें ऋषभ (बैल) को देखा था। इन कारणोंसे बालकका नाम ऋषभदेव रखा गया। इस तरह जन्म महोत्सव मनाकर इन्द्र देवोंके साथ अपने स्थानको चला गया।

भगवान ऋषभदेव महाराज नाभिके घरमें बाल चन्द्रमाके समान धीरे-धीरे बढ़ने लगे और देवकुमारोंके साथ क्रीड़ा करने लगे। ज्यों-ज्यों उनके शरीरमें वृद्धि होती गई त्यों-त्यों उनकी समस्त कलाएँ भी बढ़ती गईं। उन्होंने शिक्षाके बिना ही समस्त कलाओं, विद्याओं और क्रियाओंमें स्वयं ही निपुणता प्राप्त करली। उस समय एक मात्र वे ही सरस्वतीके स्वामी थे इसलिये वे समस्त लोकके गुरु माने जाते थे।

धीरे-धीरे पूर्ण यौवनको प्राप्त होनेपर उनका शरीर बहुत ही मनोहर हो गया। उनके रूप लावण्यको देखकर मनुष्य आनन्द-विभोर हो जाते थे। एक दिन महाराज नाभि उनकी पूर्ण युवा-वस्था देखकर एक नये विचारमे पड़ गये। वे सोचने लगे—कुमार अत्यन्त सुन्दर हैं, किन्तु इनका विषयराग अत्यन्त मन्द है। अब इनकी अवस्था विवाहके योग्य है। अतः कोई ऐसी सुन्दरी खोजनी चाहिए जो इनके चित्तको हर सके। दूसरी बात यह भी है कि यह तीर्थङ्कर हैं अतः यह अवश्य ही सब परिग्रह छोड़ कर एक दिन तपस्वी बनेंगे। फिर भी जब तक वह समय नहीं आता

तब तक लोक व्यवहारकी प्रवृत्तिके लिए इनका विवाह अवश्य कर देना चाहिए।

ऐसा विचार कर नाभिराजा भगवान्के पास गये और उनसे कहने लगे–तात! जैसे सूर्यके उदयमे उदयाचल निमित्त मात्र है वैसे ही तुम्हारी उत्पत्तिमें हम भी निमित्त मात्र हैं। अतः यद्यपि यथार्थमे मैं तुम्हारा जनक नहीं हूँ फिर भी लोकव्यवहारके अनुसार मैं तुम्हारा पिता हूँ और इस लिए कर्तव्यवश कुछ कहना चाहता हूँ। तुम अब लोककी सृष्टिमें अपना मन लगाओ। चूंकि तुम आदि-पुरुष हो इसलिए तुम्हे देखकर अन्य लोग भी ऐसी ही प्रवृत्ति करेंगे। अतः हे श्रेष्ठ! किसी मनचाही कन्याके साथ विवाह करो। ऐसा करनेसे प्रजाकी सन्ततिका उच्छेद नही होगा और सन्तति-का उच्छेद नहीं होनेपर धर्मकी परम्परा चलती रहेगी। स्त्रीका पाणिग्रहण करना गृहस्थका धर्म है, क्योंकि गृहस्थोंको सन्तान रक्षाका प्रयत्न अवश्य करना चाहिए। यदि तुम मुझे गुरु मानते हो तो तुम्हें मेरे बचनोंका उल्लङ्घन नहीं करना चाहिए क्योंकि गुरु-की बातको उल्लङ्घन करना उचित नहीं है।

इस तरह कहकर महाराज नाभि चुप हो गये और भगवानने मुस्कराते हुये मूक स्वीकारता दी। पुत्रकी अनुमति जानकर नाभि-राज बड़े प्रसन्न हुये और महोत्सवकी तैयारियां आरम्भ कर दीं। उन्होंने इन्द्रकी सम्मतिसे सुशील और सुन्दर लक्षणोंवाली दो कन्याओंको पसन्द किया। वे दोनों कन्याएँ कच्छ और महाकच्छकी बहने थीं। एकका नाम यशस्वती था और एकका नाम सुनन्दा था। दोनो कन्याओंके साथ नाभिराजने ऋषभदेवका विवाह कर दिया। दोनो पुत्रबधुओके साथ आपने पुत्रको देखकर महाराज नाभि और महादेवी बहुत ही प्रसन्न हुए। सो ठीक ही है, क्योंकि लोगोंको लौकिक धर्म ही प्रिय होता है और स्त्रियोंको तो पुत्रके

विवाहोत्सवमें ही अधिक आनन्द आता है। जनता भी इस विवाह-से बड़ी प्रसन्न हुई। मनुष्य समाज स्वयं ही भोगोंके लिए आकुल रहता है अतः अपने अगुआको भोगी बनते देखकर, उसका आनन्दित होना स्वाभाविक है। अपनी दोनों पत्नियोंके साथ विहार करते हुए ऋषभदेवका सुदीर्घ काल क्षणके समान बीत गया।

५ पारिवारिक जीवन

एक दिन महादेवी यशस्वती अपने महलमे सोती थी, उसने स्वप्नमें ग्रसी हुई पृथ्वी, सुमेरु पर्वत, चन्द्रमा सहित सूर्य, हंससहित सरोवर तथा लहराते हुए समुद्रको देखा। स्वप्न देखनेके बाद बन्दी-जनोंका मंगल गान सुनकर यशस्वती जाग पड़ी और स्नान आदि करके स्वप्नोंका फल पूछनेके लिए भगवान ऋषभदेवके समीप पहुँची तथा अपने योग्य आसनपर बैठकर भगवान्से अपने स्वप्नों-को निवेदन किया।

स्वप्नोंको सुनकर भगवान कहने लगे-देवि! तेरे चक्रवर्ती पुत्र होगा और वह बड़ा प्रतापी तथा कान्तिमान् होगा। वह समस्त पृथिवीका पालन करेगा और संसार रूपी समुद्रको पार करेगा। पतिके बचन सुनकर यशस्वती बहुत प्रसन्न हुई। राजा अतिगृद्धका जीव, जो पहले व्याघ्र था और फिर उन्नति करते२ सर्वार्थ सिद्धिमें अहमिन्द्र हुआ था, वहांसे च्युत होकर यशस्वतीके गर्भमे आया। अब वीरप्रसू यशस्वती जब कभी तलवाररूपी दर्पणमें अपना मुख देखने लगती थी। उसके गर्भके सब चिन्होंको देखकर ऋषभदेव अत्यन्त प्रसन्न होते थे।

धीरे-धीरे नौ मास बीतनेपर यशस्वतीने महापुण्यशाली तेजस्वी पुत्रको जन्म दिया। भगवान ऋषभदेवका जन्म जिस पुण्यवेलामें हुआ था उसी पुण्यवेलामें उनके पुत्रका भी जन्म हुआ। अर्थात्

चैत्र कृष्णा नवमीका दिन था, मीन लग्न थी, ब्रह्मयोग था, धनराशीका चन्द्रमा था और उत्तराषाढ़ नक्षत्र था। पौत्रका जन्म जानकर मरुदेवी और नाभिराजा बहुत ही प्रसन्न हुए। तुरही, दुन्दुभि, झांझ, शंख आदिके शब्दोंसे राजमन्दिर प्रतिध्वनित होकर गूंजने लगा। सौभाग्यवती स्त्रियां मंगल गान करने लगीं। नर्तकियोंने नृत्य आरम्भ किया। समस्त नगर आनन्दके समुद्रमे तैरने लगा। बालकका नाम 'भरत' रखा गया।

बालक धीरे-धीरे बढ़ने लगा। जैसे-जैसे वह बढ़ता था वैसे ही वैसे उसके स्वाभाविक गुण भी उत्तरोत्तर बढ़ते जाते थे। भरतके पश्चात् यशस्वतीदेवीके निन्यानवे पुत्र और हुए तथा ब्राह्मी नामकी एक कन्या भी हुई। वे सभी पुत्र चरमशरीरी और बड़े प्रतापी थे।

ऋषभदेवकी द्वितीया पत्नी सुनन्दाके भी बाहुबलि नामक पुत्र और सुन्दरी नामकी पुत्री हुई। पुत्र और पुत्रीको पाकर सुनन्दा बहुत ही प्रसन्न हुई। बाहुबलि चौबीस कामदेवोंमेंसे प्रथम कामदेव थे। अतः उनके जैसा रूप अन्यत्र दिखाई नहीं देता था। जैसे हाथी क्रम-क्रमसे मदावस्थाको प्राप्त होता है वैसे ही ऋषभदेवके भरत आदि एकसौ एक पुत्र भी क्रम क्रमसे युवावस्थाको प्राप्त हुए। उस समय उनका मनोहर रूप देखनेही योग्य था। वे सब ऐसे प्रतीत होते थे मानो ज्योतिषी देवोंका समूह है। उनमे तेजस्वी भरत सूर्य थे, अत्यन्त सुन्दर बाहुबलि चन्द्रमा थे और शेष राजपुत्र ग्रह, नक्षत्र और तारागण थे। अपने सब पुत्र पुत्रियोंसे घिरे हुए भगवान ऋषभदेव ऐसे मालूम होते थे मानो ज्योतिषी देवोंसे घिरा हुआ सुमेरुपर्वत ही है।

एक दिन ऋषभदेव सुखसे बैठे हुए थे। उसी समय उनकी दोनों पुत्रियोंने उनके निकट पहुंचकर उन्हें नमस्कार किया।

भगवानने दोनोंको उठाकर प्रेमसे अपनी गोदमें बैठा लिया। फिर उनपर हाथ फेरा, उनका मस्तक सूँघा और उनके साथ क्रीड़ा करने लगे। क्रीड़ाकर चुकनेपर बोले-तुम दोनोंका यह शरीर यह अवस्था और यह अनुपम शील यादि विद्यासे विभूषित हो तो तुम्हारा यह जन्म सफल हो सकता है। इस लोकमें विद्यावान् पुरुष पण्डितोंके द्वारा सन्मानित होता है और विद्यावती नारी स्त्री समाजमें प्रमुख पद प्राप्त करती है। विद्या ही मनुष्योंको यशस्वी बनाती है, विद्या ही पुरुषोंका कल्याण करती है। अच्छी तरहसे आराधित विद्या-देवता सब मनोरथोंको पूर्ण करती है। विद्या मनुष्योंके मनोरथोंको पूर्ण करने वाली कामधेनु है, विद्या ही चिन्तामणीरत्न है। विद्या ही धर्म अर्थ और काम पुरुषार्थकी दात्री है। विद्या ही बन्धु है, विद्या ही मित्र है, विद्या ही कल्याण करने वाली है, विद्या ही साथ जानेवाला धन है। अधिक क्या, विद्यासे ही सब कार्य सिद्ध होते हैं। अतः पुत्रियों ! तुम दोनों विद्या ग्रहण करनेमे प्रयत्न करो। तुम्हारे विद्या-ध्यन करनेका यही समय है।

ऐसा कह कर भगवान ऋषभदेवने अपनी दोनों किशोर कन्या-ओंको बारंबार आशीर्वाद दिया और फिर पाटीपर एक हाथसे वर्णमाला लिखकर लिपिकी शिक्षा दी और दूसर हाथसे अंक विद्या-की शिक्षा दी। ब्राह्मी पुत्री भगवानकी गोदमे दाहिनी ओर बैठी थी अतः उसे दाहिने हाथसे वर्णमालाका बोध कराया और सुन्दरी पुत्री बाईं ओर बैठी थी अतः उसे बायें हाथसे इकाई दहाई आदि अंक विद्याका अभ्यास कराया। इस प्रकार दोनो पुत्रियां पिताके अनुग्रहसे समस्त विद्यायें पढ़कर सरस्वतीके तुल्य हो गईं।

ऋषभदेवने पुत्रियोंकी तरह अपने पुत्रोंको भी शिक्षित किया और लोकका उपकार करनेवाले जितने शास्त्र थे वे सब अपने पुत्रोंको सिखलाये। सबसे बड़े पुत्र भरतको नृत्य शास्त्र पढ़ाया,

पुत्र वृषभसेनको गन्धर्व शास्त्र पढ़ाया, पुत्र अनन्त विजयको चित्रकलाकी शिक्षा दी, एक पुत्रको स्थापत्य कला (मकान बनाने की विद्या) की शिक्षा दी। बाहुबलिको कामशास्त्र, आयुर्वेद, धनुर्वेद, रत्न परीक्षा, अश्व परीक्षा, हस्ति परीक्षा आदि अनेक शास्त्रोंमें निपुण किया। इस प्रकार भगवान ऋषभदेवने अपनी सन्तानको सुशिक्षित बनाकर, पुरुषोंके सामने यह आदर्श उपस्थित किया कि माता-पिताका कर्तव्य केवल सन्तानको जन्म दे देना ही नहीं है, किन्तु उसे सुशिक्षित बनाना भी है। तथा पुत्रोंसे भी प्रथम पुत्रियोंको सुशिक्षित बनाना आवश्यक है।

---

६ सार्वजनिक जीवन

भगवान ऋषभदेव जगद्गुरू थे अतः उनपर केवल कौटुम्बिक उत्तरदायित्व ही नहीं था बल्कि सार्वजनिक उत्तरदायित्व भी था। सारी प्रजा उन्हें अपनी सन्तानकी तरह ही प्रिय थी। अतः वे केवल अपनी औरस सन्तानकी ही शिक्षा-दीक्षामें संलग्न कैसे रह सकते थे?

उस समयतक जिन औषधियोंसे जनता अपना रोग निवारण करती थी, वे औषधियाँ शक्तिहीन हो गई थीं। बिना बोये उत्पन्न होनेवाले जिस धान्यसे मनुष्य अपना निर्वाह अबतक करते आये थे वह भी बहुत कम उत्पन्न होने लगा था। अतः पौष्टिक आहारकी कमीसे प्रजामें रोगोंका संक्रमण होने लगा। लोग बहुत व्याकुल हुए और जीवित रहनेकी लालसा लेकर वे महाराज नाभिके पास गये। एक तो नाभिराज वृद्ध हो चुके थे, दूसरे उन्हें अपने पुत्रकी बुद्धि और शक्तिपर अधिक आस्था थी,

तीसरे अब वह उनपर सब भार सौंपकर निश्चिन्त हो जाना चाहते थे। अतः उन्होंने लोगोंको ऋषभदेवके पास भेज दिया।

लोगोंने जाकर ऋषभदेवको नमस्कार किया और विनयपूर्वक बोले—देव ! हमलोग भूख प्यासके कष्टसे बेचैन हैं। अन्न अन्न जलके बिना जीवित रहना कठिन है। इसके सिवा हम निराश्रय हैं अतः सर्दी, गर्मी, आँधी और मेहका कष्ट भी हमसे नहीं सहा जाता। आप इन सबसे बचनेका कोई उपाय बतलायें। आपके रहते हुए भी यदि हमारे दुःख दूर न हों तो आश्चर्य ही है। अतः आप ऐसा उपाय बताइये जिससे हम अपना जीवननिर्वाह निर्विघ्न कर सकें।

जनताके दीनतापूर्ण वचनोंको सुनकर वृषभदेवका चित्त दयासे द्रवित हो गया और वे मन ही मन पश्चात्ताप करते हुए विचार-मग्न हो गये। वे सोचने लगे—कल्प वृक्षोंके नष्ट हो जानेसे अब यह क्षेत्र कर्मभूमि होता जाता है अतः बिना कर्म किये लोगोंका जीवन निर्वाह नहीं हो सकता। तथा अबतक इन लोगोंमें समूह बनाकर रहनेकी भी प्रवृत्ति नहीं है, सब अलग अलग फैले हुए हैं। अतः बिना सामूहिक जीवनके भी अब निर्वाह होना कठिन है। प्रथम तो इन्हें ग्राम नगर आदि बसाकर सम्मिलित रूपसे रहनेकी आदत डालनी चाहिये। फिर योग्यताके अनुसार इन्हें आजीविकासे लगाना चाहिये। और आजीविकाके आधारपर ही इनके समूह स्थापितकर देना चाहिये। तथा यह नियम कर देना चाहिये कि प्रत्येक समूह उसी कर्मसे अपना जीवन निर्वाह करे जो उसके लिये नियत किया गया है और उसकी सन्तान भी अपना पैतृक व्यवसाय ही अपनाये। ऐसा करनेसे एक ओर लोगोंमें विश्रृङ्खलता नहीं फैलेगी, दूसरी ओर उनकी सन्तानके लिये भी जीविकाका मार्ग सुनिश्चित हो जायेगा, तीसरे वंशानुक्रम-

से चले आये हुए व्यवसायको नई पीढ़ी आसानीसे सीखकर उसमें उत्तरोत्तर सुदक्षता प्राप्त कर सकेगी।

यह सब सोचकर भगवान ऋषभदेवने सबसे प्रथम लोगोंको ग्राम नगर, आदि बसानेका उपदेश दिया और कहा कि अब लोग बिना सामूहिक जीवनके अपना जीवन निर्वाह नहीं कर सकते। अब आपको अपना अपना एक गांव या नगर आदि बसाकर रहना चाहिये। और अपने अपने गाँवके लोगोके लिये जो जो आवश्यक कार्य तथा वस्तुएँ हैं उन्हें आपसमें विभाजित करके नियतकर लेना चाहिये और उसे ही अपनी जीविकाका साधन मानकर चलना चाहिये। ऐसा करनेसे आपका सामाजिक तथा कौटुम्बिक जीवन निर्विघ्न चल सकेगा। हमने आपकी आजीविका के लिये छै साधन निश्चित किये हैं—असि, मषि, कृषि, विद्या, वाणिज्य और शिल्प। प्रत्येक समूहको अपनी तथा दूसरोंकी रक्षा-के लिए कुछ ऐसे सैनिकोंकी आवश्यकता है जो समयपर उसकी रक्षाकर सकें। अतः जो शूरवीर अस्त्र-शस्त्र चलानेमें दक्षता प्राप्त करके सदा समाजकी रक्षामें तत्पर रहना स्वीकार करें वे असि-जीविका स्वीकार करें। उनके भरण पोषणका प्रबन्ध शेष लोगों-को करना होगा।

अब ऐसे लोगोंकी भी आवश्यकता होगी जो लिखने पढ़नेमें चतुर हों, अतः जो लोग इसमें चतुर हों वे मषिजीवी हो सकते हैं। जीवनके लिये सबसे अधिक आवश्यक चीज अन्न है। अब आपको जमीन साफ करके उसमें अनाज बोना होगा तभी आपको भोजन प्राप्त हो सकेगा। अतः जो लोग इस कार्यमें अभिरुचि रखते हैं वे कृषिजीवी हो जाये। दिनभर श्रम करने-के पश्चात् थकान दूर करनेके लिये कुछ मनोरंजनके साधन होना भी आवश्यक हैं अतः जो गीत नृत्य आदिके द्वारा जनताका

मनोरंजन करके जीवन निर्वाह करनेमें अभिरुचि रखते हो वे विद्याजीवी बन जायें। खेती आदिके लिये औजारोंकी आवश्यकता पड़ेगी, मकान आदि बनानेके लिए भी कुशल कारीगर चाहिए। अतः जो इस प्रकारके साधनोमे अभिरुचि रखते हो वे शिल्पजीवी हो जाये। और जो कृषि शिल्प आदिसे उत्पन्न वस्तुओंको लेना बेचना पसन्द करे, वे वणिक् वृत्ति अपना लें।

इस तरह लोगोंको उपदेश देकर भगवानने इन्द्रको आदेश दिया कि तुम इन लोगोंकी सहायता करो। इन्द्रकी सहायतासे सभी स्त्री पुरुष काममें जुट गये। उन्हे श्रम करनेका अभ्यास नहीं था, फिर भी जीवनकी बलवती इच्छाने उन्हें उसके लिये विवश किया। इन्द्रकी प्रेरणा और साहाय्यसे ग्राम नगर आदिकी व्यवस्था हो गई। बीचमें एक नगर बसाया गया और उसके चारों ओर छोटे बड़े ग्राम बसाये गये। सौ घरोंका छोटा ग्राम और पॉच सौ घरोंका बड़ा ग्राम होता था। छोटे गॉवकी सीमा एक कोस और बड़े गॉवकी सीमा दो कोस रखी गई। गॉवोमे बगीचे, तालाब और खेतोकी बहुतायत थी, घास और जलका उत्तम प्रबन्ध था। जो गॉव नदियोंके किनारे बसाये गये थे उनमे धानके खेत लहलहाते थे।

धीरे धीरे जब लोग अपने अपने धन्धोंमें लग गये तो भगवान ऋषभदेवने उन्हें तीन वर्णोंमें विभाजित कर दिया। जो शस्त्र धारण करके आजीविका करते थे वे क्षत्रिय कहलाये। जो खेती व्यापार पशुपालन आदिके द्वारा आजीविका करते थे वे वैश्य कहलाये। और जो उनकी सेवा करते थे वे शूद्र कहलाये। सब लोग अपने अपने कामोंको मन लगाकर करते थे और अपने लिये निश्चित आजीविकाको छोड़कर कोई दूसरी आजीविका नहीं करता था।

इस प्रकार जब कितना हो समय बीत गया और प्रजा सुख पूर्वक जीवन यापन करने लगी तो नाभिराजने जनताकी सम्मति पूर्वक भगवान ऋषभदेवका राज्याभिषेक करना तय किया। किन्तु जनताके लिये राज्याभिषेक एक नई वस्तु था, वह उससे अनजान थी। तब नाभिराजने बतलाया कि राजा मर्यादाका रक्षक होता है। उसे ऊँचे आसनपर बैठाकर जलसे उसका अभिषेक करना चाहिये। यह सुनकर बहुतसे मनुष्य हाथमे पत्तो लेकर जल लानेके लिये दौड़े। इतनेमें ही भगवानका राज्यकाल जानकर इन्द्र उपस्थित हुआ और उसने भगवानको सिंहासनपर बैठाकर उनका अभिषेक किया।

इतनेमें लोग भी कमलके पत्तोंमे पानी ले लेकर आ गये और सिंहासनपर विराजमान ऋषभदेवको बड़े आश्चर्यसे देखने लगे। अब भगवानके मस्तकपर पानी डालना उचित न समझकर सब लोगोंने उस जलको भगवानके चरणोंपर डाल दिया। भगवान् अयोध्याके सिंहासनपर बैठकर अपनी सन्तानकी तरह ही प्रजाका भी पालन करने लगे।

यह पहले बतलाया है कि भोगभूमिके मनुष्य किसी प्रकारका अपराध नहीं करते थे। अतः दुष्टोका निग्रह और शिष्टोंका पालन करनेकी आवश्यकता नही थी। किन्तु कर्मभूमिमें अपराधोंकी प्रवृत्ति होने लगी थी अतः दण्डके भयसे लोग कुमार्गकी ओर नहीं जायेगे यह सोचकर भगवानको दण्डकी भी व्यवस्था करनी पड़ी। राज्यके शासन और व्यवस्थाके लिये धन भी आवश्यक है। अतः जैसे दूध देनेवाली गायको बिना कष्ट पहुँचाये उससे दूध दुहा जाता है वैसे ही प्रजाको बिना कष्ट पहुँचाये उससे कर वसूल किया जाता है। ऐसा करनेसे प्रजा भी दुखी नहीं होती और राज्य व्यवस्थाके लिये धन भी सरलतासे

मिल जाता है। ऐसा सोचकर ऋषभदेवने प्रजाके योग-क्षेमके लिये कुछ पुरुषोंको दण्डधर नियुक्त किया। और उनका सत्कार करके किसीको महामण्डलिक, किसीको माण्डलिक, किसीको अधिराज आदि बनाया।

अपने राज्यकालमें भगवानने इक्षु (ईख) के उत्पादन तथा उसके रसका उपयोग और संचय करनेकी ओर विशेष ध्यान दिलाया था इससे वे इक्ष्वाकु कहे जाने लगे और इसी नामसे उनका वंश प्रसिद्ध हुआ। कोई उन्हें प्रजापति कहता था तो कोई आदि ब्रह्मा कहता था और कोई कोई उन्हे हिरण्यगर्भ भी कहते थे; क्योंकि उनके गर्भमे आनेपर सुवर्णकी वर्षा हुई थी। इस तरह प्रेमवश लोग उन्हें विभिन्न नामोंसे पुकारते थे। और भगवान अपनी इस नामावलीको सुनकर कभी कभी मुस्करा देते थे।

---

७. प्रव्रज्याग्रहण

इस तरह ऋषभदेवको समुद्र पर्यन्त पृथ्वीका शासन करते हुये बहुत वर्ष बीत गये और प्रजाकी दशा बराबर उन्नत होती गई। एक दिन भगवान ऋषभदेव विशाल सभामंडपके बीचमें सिंहासनपर विराजमान थे और नीलांजना नामकी अप्सरा नृत्य कर रही थी। उसका नृत्य इतना सुन्दर था कि ऋषभदेवका मन भी उधर आकृष्ट हो गया और वे दृष्टि बांध कर नर्तकीके पद विन्यास और लयके साथ उसके सामंजस्यको देखने लगे। नीलांजनाका अंग २ थिरक रहा था और वह फिरकीकी तरह घूम रही थी। देखने वाले आश्चर्य विभोर होकर उसे ताकते थे। ऐसा आत्मविभोर कर देने वाला नृत्य उन्होंने आज तक नहीं देखा था। सभामण्डपमें ऐसा सन्नाटा छाया हुआ था मानों सब लोग किसी आकस्मिक दुर्घटनाकी आशंकासे ही बदहोश होगये हैं। नीलाजना

निर्वाणोन्मुख दीपकी तरह अपनी प्रभा सर्वत्र छिटका रही थी। इतनेमें ही उसके पैर डगमगाये और वह इस ढंगसे पृथ्वीपर लेट गई मानों वह अपनी नृत्यकलाका ही एक अभिनय कर रही हो।

नीलांजनाके गिरते ही इन्द्रने रसभङ्गके भयसे तुरन्त एक वैसी ही दूसरी नर्तकीको खड़ा कर दिया और नृत्य ज्योंका त्यों चलता रहा। यह कार्य इतनी द्रुतगतिसे किया गया कि सभाके लोगोंको एकके अन्त और दूसरेके आगमनका पता ही नहीं चला। किन्तु ऋषभदेव भगवानसे यह रहस्य छिपा नहीं रहा। वह तुरन्त समझ गये कि पहली नर्तकीका अन्त हो गया। जीवनके अन्तका यह प्रथम दृश्य देखते ही उनकी ज्ञान चेतना जाग उठी और वे सोचने लगे—देखो, यह नर्तकी हमारे देखते देखते ही अदृश्य होगई। इन्द्रने जो यह कपट नाटक रचा है इसमें उसका अवश्य ही सत् उद्देश्य है। जैसे नीलांजनाका शरीर विनाशी था वैसे ही ये सब भोगोपभोग भी अस्थायी हैं। अतः ये आभरण केवल भाररूप हैं, चन्दनका लेप मैलके तुल्य है, नृत्य पागल पुरुषकी चेष्टा है और गीत संसारकी करुण दशाका रुदन है।'

ये विचार आते ही उन्हें सारा जगत क्षणिक और शून्य प्रतीत होने लगा। उसी समय भगवानको विरक्त हुआ जानकर ब्रह्मलोक-से लौकान्तिक देवोंका आगमन हुआ। आते ही उन्होंने भगवान-को पुष्पाञ्जलि अर्पित की और फिर हाथ जोड़ कर बोले–देव! स्वयं बुद्ध हैं, इस लिए हमारे द्वारा प्रबोध करानेके योग्य आप नहीं हैं। किन्तु नियोगवश हम यहां उपस्थित हुए हैं और कुछ कहने-की धृष्टता करते हैं। नाथ! चिरकालके पश्चात् अब यह क्षेत्र धर्म-रूपी अमृत की बरसा करने योग्य हुआ है अतः आप अब धर्मा-मृतकी वर्षा करके चिरकालसे प्यासे भव्यरूपी चातकोंको मेघ-

की तरह सन्तुष्ट करें। बार बार भोगनेपर इन भोगोंके स्वादमें कुछ नवीनता नहीं रहती। अतः इन भोगोंको छोड़िये और तपोबल से कर्मरूपी शत्रुओंको जीत कर मोक्षका मार्ग बतलाइए।

इतना निवेदन करके लौकान्तिक देव तो अपनी कान्तिसे आकाश मार्गको प्रकाशित करते हुए अपने स्थानको चले गये और ऋषभदेवने तपश्चरण करनेका दृढ़ संकल्प कर लिया। जैसे ही उनके इस संकल्पकी खबर फैली सर्वत्र हलचल मच गई। तुमने कुछ सुना ? ऋषभदेव हमें छोड़कर चले जायंगे। अब हम कैसे जियेंगे, कौन हमारी बात सुनेगा ? अपनी कठिनाइयाँ हम किससे जाकर कहेंगे ? ' चारों ओर दुःखी और चिन्तित मनुष्य एक दूसरेसे पूछते थे और विकल होते थे। उधर इन्द्रलोकमें भी चहल पहल मची हुई थी। इन्द्रने आदेश दिया था कि भगवान ऋषभदेव अब राज छोड़कर तपस्या करनेके लिए वनमें जायेंगे अतः सब देवोंको इस महोत्सवमे सम्मिलित होना चाहिए।

इस तरह उधर इन्द्रने भगवानके तप कल्याणकका आयोजन किया इधर भगवानने अपने बड़े पुत्र भरतको राज्यका उत्तराधिकारी तथा बाहुबलिको युवराज बनानेका आयोजन किया। जनता को जब पता चला कि भगवान् हमारा भार अपने बड़े पुत्र भरतको सौंप रहे हैं तो उसकी विकलता कम हुई और वह भरतके राज्या-भिषेककी तैयारियां करने लगी।

एक ओर भगवानको वनमे ले जानेके लिए देवशिल्पियोंने पालकीका निर्माण किया, दूसरी ओर मानव शिल्पियोने राज-कुमारोंके अभिषेकके लिए मण्डप तैयार किया। एक ओर इन्द्राणी ने चौक पूरा दूसरी ओर यशस्वती और सुनन्दाने सुन्दर चौक पूरे। एक ओर देवियां मंगल कलश लिए खड़ी थीं दूसरी ओर सौभाग्यवती

स्त्रियां मंगल कलश लिए खड़ी थीं। एक ओर देवगण भगवान ऋषभदेव को घेरे हुए थे दूसरी ओर जन समुदाय राजकुमारोंको घेरकर बैठा था। एक ओर देवगण पुष्पवर्षा करते थे दूसरी ओर जनता राजकुमारोंके ऊपर पुष्पवर्षा करती थी। एक ओर देवांगनाएं नृत्य करती थीं दूसरी ओर पुराङ्गनाएं नृत्य करती थीं। इस तरह एक ओर देवगण राजपद त्याग कर सन्यास मार्गको अपनानेके लिए उत्सुक राजयोगी ऋषभदेवके तप कल्याणक-का महोत्सव मना रहे थे तो दूसरी ओर जनसमूह उसी उच्छिष्ट राज्यपदका भार भरतको सौंपनेका महोत्सव मना रहा था। राजमन्दिरमें सर्वत्र हर्ष ही हर्ष छा रहा था।

अपना भार सब पुत्रोंको सौंपकर भगवान भी निराकुल हो गये थे और सब कुटुम्बियोंसे बिदा ले रहे थे। अन्तमें महाराज नाभिसे आज्ञा लेकर वे पालकीमें जा बैठे। प्रथम ही उस पालकी को राजाओंने उठाया, फिर विद्याधरोंने उठाया। उसके पश्चात् देवोंका नम्बर आया। उस समय देवगण प्रस्थानसूचक भेरियां बजा रहे थे और भगवानके आगे जय जयकार करते जाते थे।

जब भगवान् अयोध्यासे बाहर निकले तो नगर निवासियोंने उन्हें घेर लिया और वे उनसे प्रार्थना करने लगे—देव! आप अपना कार्य पूरा करके शीघ्र ही हमलोगोंके बीचमें लौट आना। अनाथ पुरुषोंकी रक्षा करनेमे आपके समान दूसरा कोई भी समर्थ नहीं है अतः आप हमलोगोंकी रक्षा करनेमें अपना मन पुनः लगाना। प्रभो! आपका समस्त जीवन परोपकारमें ही बीता है। अब बिना कारण ही हम लोगोंको छोड़कर आप किसका उपकार करने जाते हैं?

भगवानकी पालकीके पीछे पीछे मंत्रियोंके साथ यशस्वती और सुनन्दा चली आती थीं। लोगोंकी प्रार्थना सुनकर शोकसे

उनके नेत्रोंमें आँसू भर आये। किन्तु अमंगलके भयसे उन्होंने आँसुओंको नीचे गिरनेसे रोक लिया। उस समय उनके शरीरपर कोई भी आभूषण नहीं था अतः शरीरकी शोभा और भी अधिक म्लान हो गई थी, वे किसी तरह डगमगाते पैर रखती हुई भगवानके पीछे पीछे जा रही थीं। उनके साथमें जो पुरवासी स्त्रियाँ थीं, उनकी भी ऐसी ही दशा थी। किन्हींके केशपास खुलकर हवामें लहराते थे, किन्हींको अपने वस्त्रों तककी सुधि नहीं थी। किन्हींकी आँखोसे आँसू बह रहे थे। कितनी ही स्त्रियां तो शोकसे विह्वल होकर मूर्छित हो गई, उन्हे लोगोने उठाकर पालकीमें रखा और मूर्छा दूर करके उन्हें सान्त्वना दी।

पालकी आगे बढ़ती जाती थी और यशस्वती तथा सुनन्दाके साथ साथ स्त्री-पुरुषोका समूह उसके पीछे पीछे चलता जाता था। चलते चलते जब दोनो रानियाँ शोकसे विह्वल हो उठती थीं तो अन्तःपुर की वृद्ध स्त्रियाँ उन्हे समझाती थीं—देवि! यह भगवानका प्रस्थान मंगल है, अधिक शोक करना अच्छा नहीं। चुपचाप स्वामीके पीछे चलना चाहिये। कभी कहती थीं—'देवि, जल्दी करो, जल्दी करो, शोकके वेगको रोको, देखो, देवलोग भगवानको लिये जाते हैं। अभी तो हमारे पुण्योदयसे भगवान हमें दृष्टिगोचर हो रहे हैं।'

जब पालकी नगरसे बहुत दूर निकल गई और स्त्री समूहने उसका पीछा नहीं छोड़ा तो कुछ वृद्ध पुरुषोंने स्त्रियोंको आगे जानेसे रोक दिया और कहा कि भगवानकी ऐसी ही आज्ञा है। भगवानकी आज्ञाको मस्तकपर धारण करके सब स्त्रियाँ वही रुक गईं और लम्बी लम्बी साँस लेती हुई अपने भाग्यकी निन्दा करने लगीं। किन्तु यशस्वती और सुनन्दा अन्तःपुरकी प्रधान प्रधान स्त्रियोंके साथ स्वामीकी इच्छानुसार पालकीके पीछे पीछे

चली जाती थीं। उनके पीछे महाराज नाभ, मरुदेवी, सम्राट भरत, उनके अन्य भाई, मंत्री, राजा गण तथा अन्य पुरवासी जा रहे थे।

उस समय कितने ही पुरवासी आपसमें कहते जाते थे—ये देवलोग पालकीपर बैठाकर भगवानको कहीं दूर ले जा रहे हैं, किन्तु क्यों ले जा रहे हैं यह नहीं जानते। पहले भी ये लोग जन्मोत्सव मनानेके लिये भगवानको ले गये थे और फिर वापिस ले आये थे। हो सकता है कि हम लोगोंके भाग्यसे फिर वैसा ही हो। अतः दुःखी होनेकी बात तो नहीं जान पड़ती।

भगवानकी पालकी सिद्धार्थक वनमें जाकर रुक गई। यह वन अयोध्यासे न तो वहुत दूर था और न बहुत निकट था। धीरे धीरे सव देव समूह और जन समूह भी वहाँ आ पहुँचा। उस वनमें पहलेसे ही एक शिला स्थापित थी। उसके ऊपर मण्डप बनाया गया था। शिलाके समीप ही मांगलिक द्रव्य रखे हुए थे। पालकीसे उतरकर भगवान् उस शिलापर बैठ गये। प्रथम तो उन्होंने उपस्थित समूहको अपने सान्त्वनापूर्ण वचनोंसे शान्त किया फिर गम्भीर वाणीसे एक बार पुनः सबसे दीक्षा लेनेकी आज्ञा प्राप्त की।

उसके पश्चात् सबलोग वहाँसे हट गये और भगवान्‌ने एक पर्देकी ओटमें बैठकर शरीरके सब वस्त्राभूषण उतारकर पृथ्वीपर रख दिये तथा सिद्धोंकी साक्षीपूर्वक समस्त परिग्रहका परित्याग कर दिया। फिर भगवान पूर्व दिशाकी ओर मुख करके पद्मासन-से विराजमान हुए और सिद्ध परमेष्ठीको नमस्कार करके पाँच मुष्टियोंमे समस्त केशोका लोंचकर डाला। इस तरह केशलोंच करके भगवानने दिगम्बर होकर जिनदीक्षा धारण की।

उसी समय भगवानकी देखादेखी चार हजार राजाओंने भी दीक्षा धारण कर ली। वे लोग भगवानके अभिप्रायसे बिल्कुल अपरिचित थे। केवल स्वामिभक्तिसे प्रेरित होकर ही वे दीक्षित हुए थे। स्वामीके अनुसार चलना ही सेवकोंका काम है, यह सोच कर ही वे सब नग्न हो गये। उनमेंसे कुछ स्वामीके स्नेहसे दीक्षित हुये थे तो कुछने भगवानके भयसे दीक्षा ले ली थी।

दीक्षाके पश्चात् भगवानकी स्तुति करके इन्द्र देवगणके साथ अपने अपने स्थानको चले गये। उसके पश्चात् भरतने सुन्दर सुस्वादु फलोंसे भगवानके चरणोंकी पूजा की और नमस्कार करके अपने परिवारके साथ अयोध्या लौट आये।

---

८ भगवानका तपश्चरण

भगवान ऋषभदेव शरीरसे भी ममत्व छोड़कर मौन पूर्वक तपश्चरणमें संलग्न हुए। उन्होंने छै महीनेके उपवासकी प्रतिज्ञा ली और कठोर शिलापर अपने चरण रखकर कायोत्सर्ग धारण करके खड़े हो गये। उनके दोनों पैरोंके अग्र भागमें एक बालिश्त (१२ अंगुल) का अन्तर था और एड़ियोंमें चार अंगुलका अन्तर था। समस्त मानसिक, वाचनिक और कायिक विकारोंको रोककर वे धीर वीर आत्मध्यानमें लीन थे। उनकी दोनों भुजायें नीचेकी ओर लटक रहीं थीं। आकृति अत्यन्त प्रसन्न थी, केशशून्य गोल सिरोमण्डल सूर्यमण्डलकी तरह चमकता था, नेत्र अत्यन्त निस्पन्द थे. दोनों ओठ आपसमें मिले हुए थे।

इस प्रकार जब भगवान अत्यन्त निस्पृह होकर ध्यानस्थ थे तब राजाओंका धैर्य छूटने लगा। अभी उन्हें दीक्षा लिये अधिक समय भी नहीं हुआ था कि इतनेमें ही वे मुनिवेषी घबरा उठे और आपसमें कहने लगे—भगवानमें कितना धैर्य कितनी स्थिरता

है और इनकी जंघाओंमें कितना बल है ? इनके सिवाय दूसरा कौन ऐसा साहस कर सकता है ? न मालूम भूख प्यासके कष्टोंको सहते हुए निश्चल पर्वतकी तरह यह कब तक खड़े रहेंगे ? हम समझते थे कि भ .वान् एक दो दिन अथवा ज्यादासे ज्यादा तीन चार दिन खड़े रहेंगे । परन्तु ये तो महीनो तक खड़े रहकर हमें दुखी कर रहे हैं । यदि स्वयं खा पीकर और हम लोगोंको भी खिला पिलाकर फिर खड़े हो जाते तो कोई बात नहीं थी । परन्तु ये तो बिना कुछ खाये पिये खड़े हुए हैं और हमारी निष्ठाको नष्ट किये देते हैं । यह भी पता नहीं चलता कि इस प्रकार ये क्यों खड़े हुए हैं, राजाओंके जो छै गुण बतलाये हैं उनमें भी इस प्रकार खड़े रहना नहीं बतलाया । अब तो हमें ऐसा लगता है कि स्वामी नीति नहीं जानते ; क्योंकि अनेक उपद्रवोंसे भरे हुए इस वनमें बिना रक्षाके खड़े रहना नीतिमत्ता नहीं है । भगवान् तो जीवनसे विरक्त होकर शरीरको छोड़ना चाहते हैं, परन्तु हम तो इस प्राणहारी तपसे ही विरक्त हो गये हैं । अतः जबतक भगवानका ध्यान समाप्त नहीं होता तब तक हमें वनके कन्दमूल फल वगैरह-से अपना जीवननिर्वाह करना चाहिये ।

कुछ बोले—जब भगवान राज्य करते थे तब हम उनके सो जाने पर सोते थे, भोजन कर चुकनेपर भोजन करते थे । खड़े होने पर खड़े होते थे और गमन करनेपर गमन करते थे अब जब इन्होंने तप धारण किया तो हमने तप भी धारण किया । इस प्रकार सेवकका जो कुछ कर्तव्य है वह सब कर चुके, किन्तु अब हमारे प्राण संकटमें हैं । जबसे भगवान् इस वनमें आये हैं, हमने जल भी ग्रहण नहीं किया । बिना भोजन किये, जब तक सामर्थ्य रही, खड़े रहे । परन्तु अब सामर्थ्य नहीं है तो क्या करें ? मालूम होता है भगवान् हमपर निर्दय हो गये हैं । वे हमसे व्यर्थ ही

तपस्या करा रहे हैं। इसके साथ स्पर्धा करके क्या हम मर जायें ? ये अब घरको नहीं लौटेंगे। ये तो स्वच्छन्दचारी हैं अतः इनका अनुकरण नहीं करना चाहिये।

यह सुनकर दूसरे बोले—भगवान् बड़े ही धीर वीर हैं, इन्होंने अपनी आत्माको भी वशमें कर लिया है। इन्होंने अवश्य ही किसी विशेष उद्देश्यसे राज्यलक्ष्मीको छोड़ा है। वे उसे पुनः स्वीकार करेंगे। और जब यह आज अथवा कल अपना योग समाप्त करके पुनः अपनी राज्यलक्ष्मीको स्वीकार करेंगे तब हममेंसे जिन लोगोंने स्वामीके कार्यमें अपना उत्साह भग्न किया है अथवा छल किया है उन्हे अपमानित करके अपने राज्यसे निकाल देंगे अथवा उनकी सम्पत्ति छीन लेंगे। अथवा भगवान्‌को छोड़कर जानेपर भरत महाराज हमपर कुपित होंगे। अतः जब तक भगवान्‌का योग पूर्ण हो तब तक हमें सब सहन करना चाहिए। भगवानका योग अवश्य ही आज या कल पूर्ण होगा। और तब भगवान् क्लेश सहन करनेवाले लोगोपर कृपा करेंगे। ऐसा करनेसे हमे न तो भगवानकी ओरसे ही कोई कष्ट पहुँचेगा और न भरतसे ही। बल्कि वे प्रसन्न होकर पूजा सत्कार और धनादिसे हमें सन्तुष्ट ही करेंगे।

इस प्रकार आपसमें वार्तालाप करके संकल्प - विकल्पमें पड़े हुए राजा लोग तपस्यासे विरक्त हो गये और जीवन निर्वाहका उपाय सोचने लगे। उन्होने वहाँसे खसकना शुरू किया, कुछ प्याससे पीड़ित होकर तालाबोपर पहुंचे और कुछ भूखसे पीड़ित होकर फलोंकी खोजमें इधर उधर भटकने लगे। धीरे-धीरे वे सभी भ्रष्ट हो गये और वृक्षोंकी छाल लपेटकर तथा कन्द मूल फल खाकर जीवन निर्वाह करने लगे। किन्तु भरतके डरसे वे अपने घर नही गये और झोंपड़े बनाकर वनमें ही रहने लगे।

उधर भगवान आत्मध्यानमें लीन थे। वे न हिलते डुलते थे और न अन्य ही किसी प्रकार की चेष्टा उनमें दिखाई देती थी। जब कई मास इसी तरहसे बीत गये तो हरिणोंके बच्चे उनके चरणोंके समीप आकर खेलने लगे। धीरे धीरे समस्त वनमें उनके आत्मिक तेजका प्रकाश और प्रभाव छा गया। उनकी शान्त मूर्तिने वनके हिंस्र जन्तुओंको भी आकृष्ट किया और सिंह, हिरण तथा हाथियोंके झुण्ड मिल जुलकर रहने लगे। वे आपसका नैसर्गिक विरोध भी भूल बैठे। कभी कभी तो हरिणीके बच्चे सिंहनीको अपनी माता समझकर उसके स्तनोंमे अपना मुँह डाल देते थे। इस तरह भगवानकी शान्त छविने वशमे न होनेवाले सिंहोंको भी अपने वशमें कर लिया था।

इसी बीचमें एक दिन महाराज कच्छ और महाकच्छके पुत्र भगवानके पास आये और भगवानको नमस्कार करके उनके चरणोंसे लिपट गये और कहने लगे—स्वामी आपने अपना सब साम्राज्य पुत्र-पौत्रोंको बाँट दिया। हमें कुछ भी नही दिया। हमें भी कुछ दीजिये। वे बार-बार भगवानसे आग्रह करने लगे। तब धरणेन्द्रने आकर उनसे कहा—तरुण कुमारों! इस शान्त तपोवनमें अशान्ति क्यों फैलाते हो? भगवान् तो भोगोंसे निस्पृह हैं और तुम उनसे भोगोंकी याचना करते हो। जैसे पत्थरसे कमलोंकी याचना करना व्यर्थ है वैसे ही भोगोंकी इच्छासे रहित भगवानसे भोगोंकी चाहना करना भी व्यर्थ है। यदि तुम्हें राज्य चाहिये तो भरतके पास जाओ। इस समय वही साम्राज्यके स्वामी हैं। भगवान तो सब परिग्रह त्याग चुके वे तुम दोनोंको भोगसामग्री कैसे दे सकते हैं?

धरणेन्द्रकी बात सुनकर नमि और विनमि नामके दोनों पुत्रोंको बहुत बुरा लगा। वे बोले—आप कौन हैं, हम नहीं जानते?

दूसरोंके बीचमें बोलना उचित नहीं है, अतः आप यहांसे चुपचाप चले जायें। भगवान वनमें चले आये, इससे क्या उनका प्रभुत्व जाता रहा? भरत और भगवानमें बड़ा अन्तर है। रत्नोंका अभिलाषी मनुष्य समुद्रको छोड़कर तलैयाके पास क्यों जायेगा? क्या लोकमें जलाशयोंकी कमी है जो चातक मेघसे ही जलकी याचना करता है?

राजकुमारोंके उत्तरसे धरणेन्द्र बहुत प्रसन्न हुआ और उसने उन्हें विजयार्ध पर्वतकी दक्षिण और उत्तर श्रेणीका अधिपति बना दिया।

---

९ भगवान्‌को आहारदान

जब भगवान ऋषभदेवको योग धारण किये हुए छह माह हो गये तो उन्होंने अपनी आंखें खोलीं। सब स्थिति जानकर वे विचारने लगे कि बड़े दुखकी बात है कि बड़े-बड़े वंशोंमें उत्पन्न हुए ये नवदीक्षित श्रमण क्षुधा आदिकी परीषहोंसे शीघ्र ही भ्रष्ट हो गये। अतः मोक्षमार्गको चलानेके लिये साधुके आहार ग्रहण करनेकी विधि बतलाना आवश्यक है। यह सोचकर भगवान ऋषभदेव योग समाप्त करके विहार करने लगे। उन्होंने अनेक नगरों और ग्रामोंमें विहार किया। वे जहाँ जाते थे वहींके लोग बड़े आदरके साथ उन्हें प्रणाम करते थे और कहते थे- देव! प्रसन्न होइये और आज्ञा कीजिये।' भगवान कुछ भी उत्तर दिये बिना आगे बढ़ जाते थे। तब कितने ही लोग उनके पीछे पीछे जाने लगते थे।

कुछ लोग बहुमूल्य रत्न लाकर भगवानके सामने रखते थे और कहते थे—'देव! प्रसन्न होइये और हमारी इस पूजाको स्वीकार कीजिये।' कुछ लोग वस्त्राभूषण लेकर आते थे और कहते थे कि इन्हें धारण कीजिये। कुछ लोग रूप और यौवनसे सम्पन्न कन्याओं-को लाकर भेट करते थे। कुछ लोग स्नान और भोजनकी सामग्री

लाकर प्रार्थना करते थे कि प्रभो इस आसनपर बैठकर स्नान और भोजन कीजिये किन्तु भगवान् चुपचाप आगे चले जाते थे।

कितने ही लोग पुत्र और स्त्रियों सहित आँखोंमें आँसू भर कर भगवान्‌के चरणोंको पकड़ लेते थे, जिससे भगवान् क्षणभर-के लिये रुक जाते थे। किन्तु उनके हटते ही पुनः आगे चल देते थे। इस प्रकार छह महीने और बीत गये। एक वर्ष पूरा होने पर भगवान विहार करते करते हस्तिनापुर पहुंचे। उस समय नगरका अधिपति राजा सोमप्रभ था। उसके छोटे भाईका नाम श्रेयांस था। यह श्रेयांस पूर्व जन्ममें धनदेव सेठ था और वहां-से अहमिन्द्र होकर श्रेयांस हुआ था।

जिस दिन भगवान हस्तिनापुर पहुंचे उसी रात्रिको श्रेयांसने सात स्वप्न देखे। प्रथम ही सुमेरू पर्वत देखा, फिर कल्पवृक्ष देखा, फिर सिंह देखा, चौथे स्वप्नमें सींगोंसे किनारा उखाड़ते हुए बैलको देखा, पाँचवें स्वप्नमें सूर्य चन्द्रमा देखे, छठे स्वप्नमें रत्नाकर समुद्र देखा, और सातवें स्वप्नमें अष्ट मंगल लिये हुए व्यन्तर देवोंको देखा।

प्रातः काल होनेपर श्रेयांसने अपने भाईसे स्वप्नोंका हाल कहा। सुनकर राज पुरोहित बोले—'देव! आज कोई महापुरुष अपने घर आयेंगे। ये सब स्वप्न उन्हींके गुणोंके सूचक हैं।' यह सुनकर दोनों भाई बहुत प्रसन्न हुए और भगवान ऋषभदेव-की चर्चा करने लगे। इतनेमें ही भगवानने नगरमें प्रवेश किया। नगरमें कोलाहल मच गया और नगरनिवासी सब काम छोड़-कर भगवानके दर्शनोंके लिये दौड़ पड़े। उनमेंसे कितने ही भक्तिवश चले और कितने ही कौतुक वश। कितने ही लोग तो अन्य लोगोंको जाते हुए देखकर उनकी देखादेखी ही चल दिये। वे आपसमें तरह तरहकी बातें करते जाते थे। कोई कहता था—

भगवान् हमलोगोंपर अनुग्रह करनेके लिऐ ही वनसे वापिस लौट आये हैं। कोई कहता था—बहुत दिनोंसे उनका नाम सुना करते थे। आज उन्हें प्रत्यक्ष देखनेका अवसर मिला है। एक बोला—बड़ा आश्चर्य तो यह है कि भगवान सब लोकके स्वामी होते हुए भी सब सुख छोड़कर इस तरह अकेले विहार करते हैं। इस प्रकार नगर निवासी आपसमें तरह तरहकी बातें करते हुए चले जाते थे। उधर विहार करते हुए भगवान राजमन्दिर तक आ पहुंचे। द्वारपालने शीघ्र ही जाकर श्रेयांसके साथ बैठे हुए राजा सोमसे भगवानके पधारनेके समाचार कहे। सुनते ही दोनों भाई राजमहलके आंगनतक आये और दोनोंने ही भक्ति पूर्वक भगवानके चरणोमे नमस्कार किया। फिर जलसे उनके चरण धोकर अर्घ चढ़ाया और तीन प्रदक्षिणा दीं। उस समय दोनों भाई हर्षसे गद्गद् हो रहे थे और भक्तिके भारसे दोनोंके मस्तक नीचेकी ओर झुके जाते थे।

भगवानको देखते ही श्रेयांसको अपने पूर्वजन्मका स्मरण हो आया। जब भगवान् वज्रजंघ थे और श्रेयांस उनकी श्रीमती नामकी रानी थे तो उन्होंने चारणऋद्धिधारी मुनियोंको आहार दान दिया था। पूर्वजन्मका स्मरण होते ही श्रेयांसने भगवान्को आहार दान देनेका विचार किया। उस समय ईखका ताजा रस मौजूद था। भगवान्ने आहार ग्रहण करनेके लिए दोनों हाथोंको मिलाकर अञ्जलि बनाई और श्रेयांसने राजा सोम तथा रानी लक्ष्मीके साथ आदर पूर्वक भगवान्के पाणिपात्रमें ईखके रसकी धारा अर्पित की। उसी समय आकाशसे पुष्पवर्षा होने लगी और चारों ओरसे 'धन्यदान' 'धन्यदान' की ध्वनिसे आकाश गूंजने लगा। दोनों भाईयोंने अपने आपको अत्यन्त कृतकृत्य माना। और वे इस कर्मभूमिके आरम्भमें दान-तीर्थकी प्रवृत्ति करने वाले कहलाये।

योगिराज ऋषभदेव शरीरकी स्थितिके लिए इक्षु रसका आहार ग्रहण करके पुनः बनकी ओर चल दिए। राजा सोम और श्रेयांस कुछ दूर तक भगवान्‌के पीछे पीछे गये और फिर वापिस लौट आये। दोनों ही भाई मुख फिरा फिरा कर निरीह भावसे बनको जाते हुए भगवान्‌को देखते जाते थे। जब तक भगवान् आंखोंसे ओझल नहीं हुए तब तक उनकी दृष्टि रह रहकर उन्हीं-का अनुगमन करती रही।

भगवान्‌के अदृश्य हो जानेपर लोग भगवानकी ही कथा करते हुए अपने-अपने घरोंको लौटे। सभी अपनेको कृतकृत्य मान रहे थे और भगवानके चरणोंसे चिह्नित भूमिको नमस्कार करते जाते थे। राजा सोम और उनके छोटे भाई श्रेयांसकी सर्वत्र प्रशंसा हो रही थी। धीरे धीरे यह समाचार अयोध्यामे भरत-के कानों तक भी पहुँचा। सुनकर भरत आश्चर्य करते हुए सोचने लगे कि श्रेयाँसने मौनी भगवान्‌के अभिप्रायको कैसे जान लिया? वे तुरन्त ही श्रेयांससे मिलनेके लिए हस्तिनापुर गये और आदर सहित श्रेयांससे बोले—राजकुमार! तुमने भगवान-के मनकी बात कैसे जान ली? इस संसारके लिए दानकी विधि नई ही है, इसे कौन जान सकता है? आज तुम हमारे लिए भगवानके समान ही पूज्य हो, क्योंकि तुमने भगवानको दान देकर दानकी प्रवृति की है। इसीसे मैं तुमसे यह सब पूछ रहा हूँ, जो सत्य हो, मुझसे कहो।

महाराज भरतके उत्सुकता भरे प्रश्नको सुनकर श्रेयांस बोले-राजन्! जैसे रोगी मनुष्य औषधि पाकर प्रसन्न होता है या प्यासा मनुष्य स्वच्छ जलसे पूर्ण सरोवरको देख कर प्रसन्न होता है, मुझे भी भगवानको देखकर वैसी ही प्रसन्नता हुई थी और इसीसे मुझे पूर्वजन्मका स्मरण हो आया जिससे मैंने

भगवानका अभिप्राय जान लिया। पूर्व भवमें जब भगवान वज्र-जंघ थे तब मैं इनकी श्रीमती नामकी प्रिय स्त्री था। उस समय हम दोनोने चारण मुनियोको दान दिया था। उसके स्मरणसे मैं मुनिदानकी विधिको जान सका और मैंने भगवान्को चर्याके लिए निकला जानकर उन्हें आहार दान दिया। राजन्! जो मोक्षके साधक शरीरकी स्थिति और ज्ञानादि गुणोंकी सिद्धिके लिए आहारकी इच्छा करते हैं और थोड़ेसे ग्रास लेकर ही सन्तुष्ट हो जाते हैं, ऐसे सुपात्रोंको हम सबको उत्तम दान देना चाहिए।

श्रेयांसके वचन सुनकर महराज भरत अत्यन्त प्रसन्न हुए और दोनों भाईयोका आदर सत्कार करके अपने नगरको लौट गये।

उधर धीर वीर योगी ऋषभदेव बनमें जाकर पुनः ध्यानमें लीन हो गये और अतिशय उग्र तपश्चरण करने लगे। वे न तो कभी सोते थे और न एक स्थानपर बहुत दिनों तक ठहरते थे। कभी वे पर्वतोंकी गुहाओंमें कभी पर्वतोंके शिखरोंपर और कभी अगम्य वनोंमें ध्यान लगाते थे। कभी कभी रातके समय स्मशान भूमिमें ही ध्यानस्थ हो जाते थे। इस तरह मौन पूर्वक सर्वत्र विचरण करते हुए भगवान् एक दिन पुरिमताल नामक नगरके पास जा पहुँचे। उस नगरके पास एक रमणीय उद्यान था। वह उद्यान अत्यन्त शान्त, निर्जन और निर्जन्तुक था। वहां एक वट वृक्षके नीचे पड़ी शिलापर भगवान् ध्यानस्थ हो गये। उस समय उनकी ध्यानमुद्रासे ऐसा प्रतीत होता था कि मोहरूपी शत्रुके विनाशका दिन आगया है। ज्यों ज्यों भगवानकी अन्तरंग विशुद्धि उत्तरोत्तर बढ़ती जाती थी त्यों त्यों मोहकी सेनामें खल-बली मचती जाती थी। धीरे धीरे भगवान् अप्रमत्त अवस्थाको प्राप्त

होकर मोक्ष महलकी सीढ़ीके समान क्षपक श्रेणीपर आरूढ़ हुए। और समस्त मोहनीय कर्मका संहार करके उसके सहयोगी ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय कर्मको भी नष्टकर डाला। चारो प्रबल शत्रुओंके नष्ट होते ही उन्हें केवल ज्ञानकी प्राप्ति हो गई और वे लोकालोकको जानने देखने वाले सर्वज्ञ हो गये। उस दिन फाल्गुन मासके कृष्णपक्षकी एकादशी थी।

---

१० समवसरण

भगवान्‌को केवल ज्ञानकी प्राप्ति होते ही विश्वमें फिर एक बार भूचाल सा आगया। मर्त्यलोक, पाताललोक और स्वर्गलोकमें हलचल मच गई। इन्द्रका सिंहासन पुनः एक बार कांप उठा। एक क्षणके लिए तो वह इस चिन्तामें पड़ गया कि इस इन्द्रासनको कोई हथियाना चाहता है। किन्तु दूसरे क्षणमें ही उसे अपनी भूल ज्ञात हो गई और उसने तुरन्त सिंहासनसे उतर कर अन्तरीक्षमे भगवानको नमस्कार किया तथा अपने अनुचरोंको आज्ञा दी कि भगवानकी उपदेशसभाका आयोजन करो और ऐसा सभा मण्डप बनाओ जिसमें स्त्री पुरुष, देव देवांगना तथा पशु पक्षी तक अलग अलग शान्तिके साथ बैठ सकें। भगवान् सबके स्वामी हैं अतः सभीको उनकी शरण मिलनी ही चाहिए। जो आये, उसे निराश होकर जाना न पड़े।

आदेशका पालन बड़ी तत्परतासे हुआ और कुशल शिल्पियोंने ऐसी उपदेश सभा बनाई कि स्वयं इन्द्र भी देखकर विस्मित हो गया। चूँकि उसमें किसीको जानेकी रोक नहीं थी, सभी समान रूपसे जा सकते थे, अतः उसका नाम समवसरण था। वह समवसरण बड़ा विस्तृत और गोलाकार था। उसके बाहरी

भागमे एक धूलिसाल नामक घेरा था उसके बाहर चारों दिशाओंमें चार तोरणद्वार थे। धूलिसालके भीतर कुछ दूर जाकर वीथियोंके बीचमे चारों ओर चार मानस्तंभ थे। उनके देखनेसे अहंकारी जीवोंका अहंकार नष्ट हो जाता था इस लिए उन्हें मानस्तम्भ कहते थे।

मानस्तम्भके चारों ओर सरोवर बाटिका आदि थीं। उसके पश्चात् एकके बाद एक इस तरह तीन कोट थे। तीसरे कोटके भीतर बड़ा भारी श्रीमण्डप था। उस श्रीमण्डपके बीचमें एक पीठिका थी। उस पीठिकापर एक पीठ था। उस पीठपर भी एक पीठ था। उसपर गन्ध कुटी थी। गन्धकुटीमें सिंहासनसे चार अंगुल ऊपर अन्तरीक्षमें पद्मासनसे भगवान विराजमान थे। उनके चारों ओर प्रदक्षिणा रूपसे बारह सभाएं लगी हुई थीं। उनमें क्रमसे गणधर आदि मुनिराज, कल्पवासी देवांगनाएं, आर्यिका सहित मनुष्योंकी स्त्रियां, ज्योतिषी-देवांगनाएं, व्यन्तर देवांगनाएं, भवनवासी देवांगनाएं, भवनवासी देव, व्यन्तरदेव, ज्योतिषीदेव, कल्पवासीदेव, मनुष्य और पशु बैठे थे।

राजर्षि भरतको एक ही साथ तीन शुभ समाचार मिले। धर्माधिकारीने ऋषभदेवको केवल ज्ञान होनेका समाचार दिया, आयुधशालाके रक्षकने चक्ररत्नके प्रकट होनेका समाचार दिया और कंचुकीने पुत्रोत्पत्तिका समाचार दिया। तीनों समाचारोंके एक साथ मिलनेसे भरत क्षणभरके लिए सोचमे पड़ गये कि पहले किसका उत्सव मनाया जाये। वे विचारने लगे-धर्म पुरुषार्थ अर्थ पुरुषार्थ और काम पुरुषार्थका फल मुझे एक साथ प्राप्त हुआ है। भगवानको केवल ज्ञानकी उत्पत्ति धर्मका फल है, पुत्रोत्पत्ति कामका फल है और चक्ररत्नका प्रकट होना अर्थदायक होनेसे अर्थका फल है। किन्तु वास्तवमें यह सब धर्म पुरुषार्थका ही

फल है क्योंकि धर्म रूपी वृक्षका फल अर्थ (धन) है और काम उसका रस है। अतः सबसे प्रथम धर्म कार्य ही करना चाहिये।

यह विचार कर महाराज भरत अपने छोटे भाई, स्त्रियां और नगरके प्रमुख लोगोंके साथ भगवानकी बन्दनाके लिए चले और समवसरणमें जा पहुँचे। सबसे प्रथम उन्होंने समवसरणकी प्रदक्षिणा दी। फिर मानस्तम्भोंकी पूजा करते हुए आगे बढ़े। श्री मण्डपमें पहुंच कर भरतने गन्ध कुटीके बीचमे सिंहासनपर विराजमान भगवान् ऋषभदेवको देखा। भगवानकी प्रदक्षिणा देकर भरतने भगवानकी पूजा की और पूजाके बाद दोनों घुटने जमीनमें टेककर भगवानको नमस्कार किया। फिर श्रीमण्डपमें प्रवेश कर मनुष्योंके कोठेमें जा बैठे तथा भगवानसे उपदेशामृतका पान करानेकी प्रार्थना करने लगे।

---

११ भगवानका उपदेश

भगवान ऋषभदेवने अत्यन्त गम्भीर वाणीमें विस्तारके साथ सारभूत तत्त्वोंका विवेचन किया। उस समय भगवानके मुखसे दिव्य ध्वनि ऐसे निकल रही थी जैसे किसी पर्वतकी गुफासे प्रतिध्वनि निकलती है। उसका प्रत्येक अक्षर स्पष्ट था और पशु पक्षी तक उसका अभिप्राय सरलतासे समझते जाते थे। ऐसा प्रतीत होता था कि मानों भगवानकी लोक कल्याणकी प्रबल भावनाने ही वाणीका रूप ले लिया है; क्योंकि वह ध्वनि भगवानके सर्वाङ्गसे फूटती प्रतीत होती थी।

भगवान् कहने लगे—भव्य जीवों! यह जगत् अनादि अनन्तहै, न इसकी आदि है और न अन्त है। सदासे चला आता है और सदा ऐसे ही चलता रहेगा। यह छै द्रव्योंसे बना हुआ है। वे छै द्रव्य भी अनादि अनन्त हैं। उनका कोई बनाने और मिटानेवाला नहीं

है। वे छै द्रव्य हैं—जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म आकाश और काल। इनमें एक जीव द्रव्य ही चेतन है, बाकीके सब द्रव्य जड़ है। जिसमें चेतना—अर्थात् जानने देखनेकी शक्ति हो उसे जीव कहते हैं। और जिसमें यह शक्ति न हो उसे अजीव अथवा जड़ अथवा अचेतन कहते हैं। अजीव द्रव्य पांच है। जिसमें रूप रस, गन्ध और स्पर्श पाया जाता है उसे पुद्गल कहते हैं। जिस वस्तुको हम छूकर, चाखकर, सूंघकर, अथवा देखकर जान लेते हैं वह सब पुद्गल है। पुद्गल दो प्रकारके होते हैं—अणु और स्कन्ध। परमाणु अत्यन्त सूक्ष्म होता है, दो तीन आदि परमाणुओंके बन्धसे स्कन्ध बनते हैं। एक परमाणुमें एक रस, एक गन्ध, एक रूप, और दो स्पर्श गुण होते हैं। शब्द, छाया, आतप, चान्दनी, मेघ वगैरह सब पौद्गलिक हैं—पुद्गल परमाणुओंके मेलसे ही यह बनते है और उनके बिछुड़नेसे नष्ट हो जाते हैं।

जो जीव और पुद्गलों के गमनमे सहकारी कारण होता है उसे धर्मद्रव्य कहते हैं और जो उनके ठहरनेमे सहकारी कारण होता है उसे अधर्म द्रव्य कहते हैं। चलने और चलकर ठहरनेकी शक्ति तो जीव और पुद्गलमे ही है, किन्तु ये दोनों द्रव्य केवल उसमें निमित्त मात्र होते हैं। जैसे जल मछलीको चलते समय सहायक होता है वैसे ही धर्मद्रव्य चलते हुए जीव और पुद्गलोंके चलनेमें सहायक होता है। तथा जैसे वृक्षकी छाया स्वयं ठहरनेके इच्छुक मनुष्योंको ठहरनेमें सहायता देती है वैसे ही अधर्म द्रव्य भी चलते हुए जीव और पुद्गलोंको ठहरनेमें सहायक होता है। बलपूर्वक न कोई चलाता है, और न बलपूर्वक कोई ठहराता है।

जो सब पदार्थोंको स्थान देता है वह आकाश है। आकाश व्यापक है। जो वस्तु मात्रके परिणमनमें सहायक होता है वह कालद्रव्य है। जैसे कुम्हारके चाकको घूमनेमें उसके नीचे लगी

कील सहायक होती है वैसे ही काल द्रव्य भी सब पदार्थोंके परिणमनमें सहायक होता है। प्रत्येक द्रव्य उत्पाद व्यय और ध्रौव्यात्मक है अर्थात् प्रत्येक द्रव्य प्रति समय उत्पन्न भी होता है, नष्ट भी होता है और ध्रुव भी रहता है। जो पर्याय पहले नहीं थी उसका उत्पन्न होना उत्पाद है, जो पर्याय वर्तमान है उसका नष्ट होना व्यय है, और उत्पाद व्ययके होते हुए भी वस्तुका जो धर्म दोनों अवस्थाओंमें पाया जाता है वह ध्रौव्य है। जैसे कुम्हार मिट्टीके पिण्डसे घड़ा बनाता है। घड़ा बननेपर घट पर्यायका उत्पाद होता है और पिण्ड पर्याय नष्ट हो जाती है। किन्तु मिट्टी दोनों हालतोंमें वर्तमान रहती है। इसी तरह प्रत्येक वस्तुमे प्रति समय परिवर्तन होता रहता है, एक पर्याय नष्ट होती है, दूसरी पर्याय उत्पन्न होती है किन्तु फिर भी वस्तु कायम रहती है। अतः प्रत्येक वस्तु द्रव्यरूपसे नित्य है और पर्यायरूपसे अनित्य है। आकाश द्रव्य जैसी स्थायी वस्तु भी पर्यायरूपसे अनित्य है और दीपक जैसी क्षणिक वस्तु भी द्रव्यरूपसे नित्य है। न कोई वस्तु सर्वथा नित्य ही है और न कोई वस्तु सर्वथा क्षणिक ही है।

जीव भी नित्य और अनित्य है। एक ही जीव मरकर मनुष्य से देव और देवसे पशु हो जाता है। अतः मनुष्य, देव आदि पर्यायोकी अपेक्षा जीव अनित्य है;किन्तु इन पर्यायोंके मिटनेपर भी जीव द्रव्यका नाश नहीं होता अतः वह नित्य है।

इन छै द्रव्योमे एक जीव द्रव्य ही जानने देखनेवाला है, अतः वही उपादेय है, उसीको जानने और समझनेकी आवश्यकता है। उसको जान लेनेपर कुछ जानना शेष नहीं रहता और उसको बिना जाने सब जानना व्यर्थ है। जिसको हम धर्म कहते है वह इस जीवका ही धर्म है। अतः जो जीव अथवा आत्माको जानता है वही धर्मको जानता है और जो आत्माको नहीं जानता वह

धर्मको भी नहीं जानता। जो मनुष्य आगको जानता है वही उसके उष्ण धर्मको भी जानता है और जो अग्निको नहीं जानता किन्तु सुनसुनाकर कहता फिरता है कि उष्ण धर्म है उष्ण धर्म है, वह उष्ण धर्मसे अपरचित ही है। अतः धर्मको जाननेके लिये आत्माको जानो। यह जीव अथवा आत्मा ज्ञाता दृष्टा है, स्वयं ही अपने कर्मोंका कर्ता है और स्वयं ही कर्मोंके फलका भोगनेवाला है। न यह आत्मा परमाणुके बराबर है और न सर्व व्यापक है। किन्तु जिस शरीरमें यह रहता है उसीके बराबर हो जाता है। उसकी दो अवस्थाएँ होती हैं—संसारी और मुक्त। नरक, तिर्यञ्च, मनुष्य और देव इन चार गतियोंसे युक्त संसारमें भटकनेवाले जीव संसारी कहलाते हैं और समस्त कर्मोंसे मुक्त हुए जीव मुक्त कहलाते हैं। जीवकी अशुद्ध दशाका नाम संसार है और शुद्ध दशाका नाम मोक्ष है।

जैसे, खानसे सोना मिट्टी वगैरहसे मिला हुआ निकलता है। बादको उसे अनेक उपायोंसे शुद्ध किया जाता है। शुद्ध होनेपर सोनेके स्वाभाविक गुण प्रकट होते हैं और सोनेका पीतवर्ण चमक उठता है। वैसे ही यह जीव भी अनादि कालसे कर्मोंके बन्धनमें पड़ा हुआ है। उसके कारण इसके सभी स्वाभाविक गुण विकृत हो गये हैं। यह अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सुख और अनन्त वीर्यका भण्डार है। किन्तु संसार दशामें यह इन्द्रियोंकी सहायताके बिना न जान सकता है, न देख सकता है और न सुखका अनुभव कर सकता है। इससे इसे यह विश्वास हो गया है कि जानना, देखना मेरा स्वभाव नहीं है, यह तो इन्द्रियोंका धर्म है। इन्द्रियां और शरीर ही सब कुछ हैं, इनके सिवाय जीव और कुछ नहीं है। किन्तु ऐसी धारणा बिल्कुल भ्रान्त है। शरीर और इन्द्रियोंसे भिन्न जीव एक स्वतंत्र द्रव्य है। जब वह इस शरीरमें-

से निकल जाता है तो शरीर और इन्द्रियोंके रहते हुए भी नवीन शवमें न ज्ञान रहता है और न दर्शन रहता है।

ज्ञान और दर्शनकी तरह सुख भी जीवका ही गुण है। किन्तु उसे भी यह भूल गया है और सुखकी प्राप्तिके लिए बाह्य वस्तुओंकी चाहसे भटका फिरता है। इसकी दशा उस हिरणकी सी है, जिसकी नाभिमें कस्तूरी है किन्तु वह उसे नहीं जानता और कस्तूरीकी गन्धको सूघकर इधर उधर उसकी खोजमें भठकता फिरता है। अतः बाह्य वस्तुओंमें सुखको खोजना अज्ञानता है। सुखका तो तुम्हारे ही अन्दर भण्डार है उस भण्डारकी कुंजी भी तुम्हारे ही पास है। वह कुंजी सम्यग्दर्शन है। सम्यग्दर्शन मोक्ष प्राप्त करनेका प्रधान साधन है। और मोक्ष अनन्त सुख स्वरूप है अतः सम्यग्दर्शनको प्राप्त करनेकी चेष्टा करो।

सात तत्त्वोंके यथार्थ श्रद्धानका नाम ही सम्यग्दर्शन है। वे सात तत्त्व इस प्रकार हैं—जीव अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष। धर्मका सम्बन्ध जीवसे है उसीको उत्तम सुख प्राप्त करानेके लिये धर्मका उपदेश दिया जाता है, तथा वही मोक्ष प्राप्त करता है, अतः जीवके स्वरूपका यथार्थ श्रद्धान होना जरूरी है। जीवके दुखोंका मूलकारण उसके द्वारा बांधे गये कर्म हैं। कर्म अजीव है। अतः कर्मोंका स्वरूप भी समझ लेना आवश्यक है। जड़ कर्मका जीव तक आना आस्रव है। जीव और कर्मका परस्परमें बन्ध जाना बन्ध है। इन चारों तत्त्वोंको समझ लेनेसे संसारके कारणोंका पूरा ज्ञान हो जाता है।

उसके पश्चात् मुक्ति और उसके कारणोंको जानना भी जरूरी है। नवीन कर्मबन्धके रुकनेको संवर कहते हैं। पुराने बन्ध हुए कर्मोंके धीरे धीरे झड़नेको निर्जरा कहते हैं। और आत्माके समस्त कर्मबन्धनोंसे छूट जानेको मुक्ति या मोक्ष कहते है। प्रत्येक मुमुक्षुको

इन सात तत्त्वोंका सच्चा श्रद्धान और सच्चा ज्ञान होना आवश्यक है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र ये तीनों ही मोक्षकी प्राप्तिके साधन हैं यदि इनमेसे एक भी न हो तो मोक्षकी प्राप्ति नहीं हो सकती। तथा वही ज्ञान सम्यग्ज्ञान है जो सम्यग्दर्शन पूर्वक होता है और वही चारित्र सम्यक् चारित्र है जो सम्यग्ज्ञान पूर्वक पाला जाता है। सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानसे रहित चारित्र निष्फल है। जैसे अन्धे मनुष्यका दौड़ना उसके पतनका ही कारण होता है वैसे ही सम्यग्दर्शनसे शून्य चारित्र भी मनुष्यको गिराने वाला ही होता है। इष्ट और अनिष्ट विषयोंमें समताभाव रखनेका नाम सम्यक् चारित्र है। पूर्ण सम्यक्चारित्र हिंसाका सर्वथा त्याग करदेने वाले मुमुक्षु मुनिराजोंके ही होता है।

भव्य जीवों! हिंसा ही दुःखका कारण है और अहिंसा ही सुखका कारण है। अपनेसे किसीके मर जाने या दुखी हो जानेका ही नाम हिंसा नहीं है। संसारमें सर्वत्र जीव भरे हुए हैं और वे अपने निमित्तसे मरते भी हैं। किन्तु उसका नाम हिंसा नही है। वास्तवमे हिंसारूप परिणाम ही हिंसा है। जो मनुष्य जीवोंकी हिंसा करनेके भाव नहीं रखता, बल्कि उनको बचानेके भाव रखता है उसके द्वारा किसीकी हिंसा हो जाने पर भी उसे हिंसाका पाप नहीं लगता, क्योंकि वह मनसे हिंसक नहीं है। किन्तु जो मनुष्य यत्नाचार पूर्वक अपना काम नहीं करता, चाहे जीव जिये या मरे, उसे हिंसाका पाप अवश्य लगता है। अतः हिंसा और अहिंसा मनुष्यके भावोंपर निर्भर है, किसीके मरने या न मरने पर नहीं। अतः यदि सच्चा सुख चाहते हो तो अहिंसक बनो और अहिंसक बनना चाहते हो तो सन्तोषी बनो। जो सन्तोषी है वही मुमुक्षु है और जो असन्तोषी है वह बुभुक्षु है। अतः अपनेमें सन्तोष रखो और असन्तोषको कभी भी स्थान मत दो। यदि तुम असन्तोषी बने

और बहुत आरम्भ और बहुत परिग्रहका संचय करनेमें जुट गये तो तुम्हें तो मरनेके बाद ही नरकमें जाना पड़ेगा, किन्तु तुम मनुष्य-समाजको जीवित ही नरकमें पटक दोगे। अतः यदि अपना और सबका हित चाहते हो तो अहिंसा धर्मका पालन करो। अहिंसा ही परमधर्म है इसीसे सबका कल्याण होगा।'

भगवानके दिव्य उपदेशको सुनकर सभा अत्यन्त सन्तुष्ट हुई। महाराज सोमप्रभ अपने छोटे भाई श्रेयांसके साथ जिन-दीक्षा लेकर भगवानके गणधर हो गये। भरतकी छोटी बहिन ब्राह्मी भी भगवानके उपदेशसे दीक्षा लेकर आर्यिकाओंकी प्रमुख होगई। ब्राह्मीको दीक्षा लेते देखकर भगवानकी दूसरी पुत्री सुन्दरी-को भी संसारसे विरक्ति हो गई और उसने भी दीक्षा धारण कर ली। जो तपस्वी पहले भ्रष्ट होगये थे, उनमेंसे मारीच आदिको छोड़कर शेष सबने भगवानके उपदेशसे प्रबुद्ध होकर पुनः दीक्षा धारण करली। महाराज भरतको चक्ररत्नकी पूजा करनेके लिए कुछ जल्दी हो रही थी, अतः वे भगवानको नमस्कार करके अयोध्या लौट गये। उनके पीछे पीछे बाहुबलि आदि उनके भाई भी वापिस हो गये।

१२ भरतका दिग्विजय

अयोध्या लौटकर महाराज भरतने पहले चक्ररत्नकी पूजा की और फिर पुत्रोत्पत्तिका आनन्द मनाया। इस अवसरपर भरतने इतना दान दिया कि कोई लेने वाला नहीं मिला। इसके पश्चात् भरतने दिग्विजयके लिए प्रस्थान किया। सबसे आगे पैदल सेना थी, उसके पीछे घुड़ सवार थे, उनके पीछे रथारोही थे और उनके पीछे हाथियोंका झुण्ड था। महाराज भरत रथपर सवार थे। सारी सेना महाराजके रथको घेरकर चलती थी। जब सेना नगर के मध्यसे होकर चली तो अपने अपने मकानोंके झरोखोंमें खड़ी

हुई नारियोंने महाराज भरतके ऊपर पुष्पवर्षा की और नगर-निवासियोंके जयकारसे दिङ्मण्डल गूंज उठा। जब सेना नगरके द्वारसे बाहर निकली तो उस असंख्य सेनाको बड़ी कठिनतासे धीरे धीरे बाहर निकलना पड़ा। उस समय जहां तक दृष्टि जाती थी सेना ही सेना दिखाई पड़ती थी।

भरतने सबसे प्रथम पूरब दिशाको जीतनेका संकल्प किया। आगे आगे चक्ररत्न चलता था उसके पीछे पीछे सेना चलती थी। दण्डरत्नको आगे करके सबसे आगे सेनापति चलता था और वह ऊंचे नीचे दुर्गम स्थानोंको एकसा करता जाता था। मार्गमें पड़ने वाले ग्रामोके मुखिया लोग घी और दहीसे भरे हुए पात्र लेकर भरतके दर्शन करने आते थे। कितनी ही मंजिलों द्वारा लम्बा मार्ग तय करके महाराज भरत गंगा नदीके समीप पहुंचे और उन्होने सेना सहित वहीं पड़ाव डाल दिया। दूसरे दिन प्रातः कालकी क्रियाओसे निवृत्त होकर भरतने पुनः चक्ररत्न-के पीछे पीछे प्रस्थान किया।

चक्ररत्न और दण्डरत्न ये दोनोंही रत्न चक्रवर्तीकी सेनाके आगे आगे रहते हैं। चक्रवर्तीकी विजयमें वास्तविक कारण ये दोनों ही होते हैं, बाकी सामग्री तो केवल शोभाके लिए होती है।

इस बार भरत हाथीपर सवार थे और हजारों सेना-नायक उनके पीछे पीछे चल रहे थे। सेनापतिने यह घोषणा कर दी थी कि आज समुद्रपर पहुंच कर गंगा नदीके मुहानेपर पड़ाव डालना है, यात्रा लम्बी है अतः जल्दी करनी चाहिए। इससे सेना तीव्रगतिसे आगे बढ़ रही थी। मार्गमें अनेक मण्डलेश्वर राजा आ आकर भरतको प्रणाम करते थे और इस तरह बिना प्रयत्नके ही शत्रु वशमें होते जाते थे। भरतको न तो तलवार हाथमें लेनी पड़ी और न धनुषपर डोरी चढ़ानी पड़ी। केवल प्रभुत्व शक्तिसे ही

उन्होंने पूर्व दिशाको जीत लिया।

जंगली हाथियोंसे भरे हुए बनमें रहने वाले भीलोंने जंगली हाथियोंके दाँत और मुक्ता भेंट कर भरतके दर्शन किए। कितनोंने चमरी गायके बाल और कस्तूरी मृगकी नाभि भेंट की। इस प्रकार लम्बा मार्ग तय करके महाराज भरत गंगाके मुहानेपर जा पहुँचे और गंगा तटके वनमें सेनाको ठहराया। वे समुद्रपर अपना आधिपत्य स्थापित करना चाहते थे। अतः उन्होंने वहां ठहर कर तीन दिन उपवास पूर्वक अर्हन्त देवका आराधन किया। उसके पश्चात् सेनाकी रक्षाके लिए सेनापतिको नियुक्त करके स्वयं दिव्य अस्त्र धारण किए और ऐसे रथपर सवार हुए जो जल और थल-पर समान रूपसे चलता था।

जब वह रथ समुद्रके किनारे पहुँचा तो भरतने अपने सारथि-को समुद्रके अन्दर रथ बढ़ानेका आदेश दिया। आदेश पाते ही वह रथ समुद्रमें जहाजकी तरह शीघ्रतासे आगे बढ़ने लगा। जब कुछ योजन तक जलके भीतर जाकर रथ खड़ा हो गया तो चक्रव-र्तिने क्रुद्ध होकर अपना धनुष उठाया। धनुषपर डोरी चढ़ाकर जैसे ही भरतने टंकार की, समुद्रके अन्दर हलचल मच गई, और मगर मच्छ इधर उधर भागने लगे।

'मैं ऋषभदेवका पुत्र चक्रवर्ती भरत हूँ। इस समुद्रपर मेरा अधिकार है। अतः जो यहांके निवासी हैं वे सब मेरे अधीन हों।' उच्च स्वरसे यह घोषणा करके भरतने अपना कभी व्यर्थ न जाने वाला बाण छोड़ा। बाण समुद्राधिपति मागधदेवके पास जाकर गिरा। वह उसे देखकर बड़ा क्रुद्ध हुआ और बोला—'हम लोग शत्रुओंको जीतनेसे ही 'देव' कहलाते हैं। जो बाण छोड़कर मुझसे धन वसूल करना चाहता है, उसे मैं निधन-मृत्यु-दूँगा।'

तब कुछ अनुभवी देवोंने उसे शान्त किया और कहा—यह बाण चक्रवर्तीका है इसपर कुछ खुदा हुआ है। अतः यह बाण उन्हे लौटा देना चाहिये और उनकी आज्ञा माननी चाहिये।

यह सुनकर मागध शान्त हुआ और चक्रवर्तीको बाण लौटा कर उसने उनकी अधीनता स्वीकार की। भरत प्रसन्न होकर अपने शिविरमें लौट आये और दक्षिण दिशाको जीतनेकी इच्छासे समुद्रके किनारे चल पड़े। मार्गके राजाओंको अधीन करते हुए महाराज भरतने समुद्रके किनारे अपनी सेना ठहराई और दक्षिण दिशाको जीतकर पश्चिम दिशाकी ओर बढ़े। वास्तवमे भरतका कोई जीतने योग्य शत्रु ही नहीं था। फिर भी उन्हें दिग्विजय करनेकी इच्छा हुई थी अतः इस बहानेसे वे सर्वत्र घूमते फिरते थे।

दक्षिणमें नारियल, कटहल और मिर्चोंकी बहुतायत थी। अतः सैनिक नारियलोंका पानी पीते, और कटहल खाते थे। धीरे धीरे सह्य पर्वतको लॉघकर भरतकी सेना विन्ध्याचलपर पहुँची और नर्मदा नदीके किनारे उसने अपना पड़ाव डाला। सैनिकोंने वहाँके फल, पत्र और वृक्षोंका खूब उपभोग किया और फूल तक नहीं छोड़े। विन्ध्याचलके वासियोंने अनेक वन्य औषधियाँ भेट करके भरतके दर्शन किये। कुछने हाथी दन्त और मुक्ता उपहारमें दिये।

नर्मदाको पार करके चक्रवर्तीकी सेना पश्चिम दिशाको जीतनेके लिए चल दी। चलते चलते वह उस मनोहर प्रदेशमें पहुँची जहाँ आज गिरनार पर्वत अपना ऊँचा मस्तक किये स्थित है। वहाँके मुखिया पुरुषोंने अपने देशकी उपज भेंटमे देकर चक्रवर्तीको प्रसन्न किया। चक्रवर्तीने भी किसीको सन्मानसे, किसीको दानसे, किसीको स्नेहपूर्ण व्यवहारसे और किसीको प्रसन्न दृष्टिसे

सन्तुष्ट करके अपना प्रेमी बनाया। भरतके सेनापतिने भी अपनी विजयी सेना लेकर सब जगह भरतका आधिपत्य स्थापित किया।

इस प्रकार चक्रवर्ती भरत पूर्व दिशाके समान पश्चिम दिशा-को भी जीतते हुए पश्चिम समुद्रके तटपर पहुंचे और उधर भी अपनी विजयका डंका बजाया। यहाँसे उन्होंने उत्तर दिशाकी ओर प्रयाण किया और उधरके राजाओंको वशमें करते हुए विजयार्ध पर्वतके समीप पहुँचे। सेनाने जैसे ही बनके भीतर प्रवेश किया उसका कलकल शब्द सुनकर वनके पशु एकदम भयभीत हो गये; उनके लिये यह कोलाहल अपरिचित था; क्योंकि उनके जीवनमें किसी कटकने उस बनमें प्रवेश नहीं किया था।

वनके भीतरसे जाकर सेना विजयार्ध पर्वतके समीप पहुँचकर ठहर गई और वहीं पड़ाव डाल दिया गया। भरतको ठहरा हुआ जानकर विजयार्ध पर्वतका स्वामी उनके दर्शनके लिये आया। भरतने सत्कारपूर्वक उसे उचित आसन प्रदान किया। उसने कहा—मैं इस पर्वतका रक्षक हूं। आज तक मैं स्वतंत्र था, अब मैं आपके अधीन हूँ। यह पर्वत आधी दिग्विजयका सूचक है, इसीसे इसे विजयार्ध कहते हैं। उसपर रहनेसे मेरा नाम भी विजयार्ध पड़ गया है। मैं आपकी आज्ञाको मालाकी तरह सिर-पर धारण करता हूँ और आपके पदाति सैनिकोंमेंसे एक हूँ। इससे अधिक और मैं क्या निवेदन करूँ?

इतना कहकर उसने भरतका अभिषेक किया और अनेक बहुमूल्य वस्तुयें भेंट करके चला गया। सम्पूर्ण दक्षिण भारतको जीत लेनेसे चक्रवर्तीको बहुत प्रसन्नता हुई। अब उसने उत्तर-भरतको जीतनेका संकल्प किया। अतः कुछ दिनों तक वहीं ठहर कर सेनाको विश्राम दिया तथा नई सेना भी संचित की। अनेक

राजा अपनी-अपनी सेना लेकर आ पहुँचे, उनमे कुरुराज जयकुमार भी थे। अब तक तो एक तरहसे स्वदेशको ही जीता था, किन्तु आगे विदेशको जीतना था, जिसमे म्लेच्छ राजाओंका आधिपत्य था। अतः धनुर्धारी सेना तैयार की गई। सब योद्धाओंमें अपूर्व उत्साह था और स्वामीका कार्य सिद्ध करके विदेशोंमें अपना यश फैलानेकी उत्कट भावना थी। किन्तु कुछ सैनिक ऐसे भी थे जो दुर्गम पर्वतको लाँघने और बड़ी-बड़ी नदियोंको पार करनेकी बाते सुनकर आगे नहीं बढ़ना ही उचित समझते थे।

एक दिन भरतने पर्वतसे उतरते हुए एक व्यक्तिको देखा। उसका तेज देखकर भरत प्रभावित हुए और पास आनेपर उसे उचित आसन दिया। वह कहने लगा—देव! हमलोग तो नाम मात्रके देव है, वास्तविक देवत्व तो आपमे ही है। मैं इस पर्वतके शिखरपर रहता हूँ और आपकी सेनाका कोलाहल सुनकर ही आज पर्वतसे उतरकर यहाँ आया हूँ। मैं इस पर्वतकी गुफाओं और बनोंसे सुपरिचित हूं। अतः जो सेवा मेरे योग्य हो, आज्ञा कीजिये। उत्तर भारतमे जानेके लिये इस पर्वतमे आरपार एक गुफा है, उसका द्वार बन्द है। उसमें प्रवेश करनेका उपाय मैं बतला सकता हूँ।

यह सुनकर भरत बहुत प्रसन्न हुए। उन्होंने अपने सेनापतिको उस देवके द्वारा बतलाये गये उपायोंसे विजयार्ध पर्वतकी गुफाके द्वार खोलनेका आदेश दिया। आदेश पाते ही चतुर सेनापति दण्ड रत्न हाथमे लेकर कुछ अश्वारोहियोंके साथ अश्वपर चढ़कर चल दिया। गुफाके द्वारपर पहुँचकर सेनापतिने चक्रवर्तीका जयघोष करके दण्डरत्नसे गुफाके द्वारपर प्रहार किया। भयंकर शब्दके साथ गुफाका द्वार खुल गया और उसमेसे भयंकर ऊष्मा निकलने लगी। जैसे ही द्वार खुला

सेनापतिका अश्व तुरन्त ही अपने सवारके साथ वहाँसे हवा हो गया और इस तरह सेनापति उस भयंकर ऊष्मासे बच गया। चिरकालसे बन्द उस गुफाको शुद्ध होनेमें समयकी अपेक्षा थी अतः सेनापतिने समीपवर्ती म्लेच्छ प्रदेशोंको विजित करनेमें अपना समय बिताया।

जब गुफाकी गर्मी शान्त हो गई और सेवकोंने उसे स्वच्छ कर डाला तब चक्रवर्तीने सेनाके साथ उस गुफामे प्रवेश किया। किन्तु गुफामें घना अन्धकार था अतः सेना घबरा उठी। तब चक्रवर्तीकी आज्ञासे सेनापतिने पुरोहितके साथ साथ उस अन्धकारमेसे निकलनेका उपाय किया। उन्होने काकिणीरत्न और चूड़ामणिरत्नकी सहायतासे गुफाके दोनों ओरकी दीवारों पर ऐसे प्रकाश स्तम्भ स्थापित किये, जिनका प्रकाश एक योजन तक होता था। उसके पश्चात् सेना आगे बढ़ी, किन्तु उसे दिशा ज्ञान नही रहा कि किधर पूरब है और किधर पश्चिम है।

जब सेनाने आधी गुफा तयकर ली तो सेना ऐसे स्थानपर पहुँची जहाँ गुफाके दोनों ओरसे दो नदियाँ निकलकर सिन्धु नदीमे मिलती थीं। उन नदियोमेसे एक नदीमे तो यह विशेषता थी कि उसमें जो भी वस्तु डाली जाती, चाहे वह पत्ता ही हो, उसे वह तुरन्त ही नीचे ले जाती थी और दूसरी इससे बिल्कुल उल्टी थी, उसमे जो वस्तु डाली जाती, उसे वह तुरन्त ऊपर उछाल देती थी। चक्रवर्ती चिन्तामें पड़ गये कि इन्हे कैसे पार किया जाये। उन्होंने तुरन्त ही अपने स्थपतिको बुलाया। दक्ष स्थपति नदियोंको देखते ही उनके रहस्यको जान गया कि यह वायुके दबावका खेल है। पुल बाँधनेके सिवा दूसरा कोई उपाय नहीं था अतः स्थपतिने विशालकाय वृक्षोंके द्वारा पुलका निर्माण करके उसपरसे सेनाको पार उतार दिया। उसके

पश्चात् कठिन रास्ता तय करके सेना गुफाके उत्तर द्वारपर जा पहुँची। हाथियोंकी सहायतासे द्वारके खुलनेपर जब सेना गुफा-से बाहर हुई तो उसे ऐसा लगा मानों उसका दूसरा ही जन्म हुआ है।

उधर पहुंचते ही सेनापतिने पश्चिम म्लेच्छ खण्डको जीत लिया। उसके पश्चात् मध्यम म्लेच्छ खण्डको जीतनेका उपक्रम किया। इतनेमें चिलात और आवर्त नामके दो म्लेच्छराज शत्रु-की सेनाका आगमन और म्लेच्छ देशोंका पराभव सुनकर बहुत उत्तेजित हुए। 'हमारे देशमे शत्रु सेनाका आना एक बिल्कुल नई बात है। हमें देशपर आये इस संकटका प्रतिकार करना ही चाहिये'। यह सोचकर वे दोनों युद्धके लिये तैयार हुए। तब उनके मंत्रियोंने उन्हें समझाया और कहा—राजन्! विजयार्ध पर्वतको लाँघकर आनेवाला कोई साधारण मनुष्य नहीं हो सकता। अतः युद्धका उद्योग न करके किसी किलेका आश्रय लेना चाहिये। दूसरी बात यह भी है हमारे कुलदेवता अवश्य ही शत्रुओंको रोकेंगे। उनका ही स्मरण करना चाहिये।

मंत्रियोंकी सलाह मानकर म्लेच्छराजने अपने कुल-देवताओंका स्मरण किया। इतनेमें ही घोर वृष्टि आरम्भ हो गई और वायुने भी विकराल रूप धारण कर लिया। किन्तु चक्रवर्ती तो सब तरहकी तैयारी करके ही उत्तर भरतको जीतने आया था। अतः सेनाकी सुरक्षाके लिये तुरन्त ही जमीनपर चर्म-रत्न बिछा दिया गया और ऊपर इतना बड़ा जल रक्षक छत्ररत्न तान दिया गया जिसके अन्दर समस्त सेना आरामसे सात दिन तक ठहरी रही। उस अण्डाकार मण्डपके भीतरकी रक्षाका भार सेनापतिपर था और बाहरसे रक्षाका भार जयकुमारके ऊपर था। एक दिन म्लेच्छोंने उस शिविरपर आक्रमणकर दिया तब

कुरुराज जयकुमारने घोर संग्राम करके उन्हें जीत लिया। इस हारसे भयभीत होकर दोनों म्लेच्छ राजोंने चक्रवर्तीकी दासता स्वीकार कर ली। उसके पश्चात् सेना आगे बढ़ी।

अपनी इस विजयसे चक्रवर्ती भरतका मन अभिमानसे फूल उठा। वह सोचने लगा कि जबसे यह संसार है किसीने भी मेरी तरह दिग्विजय नहीं की। मैं ही प्रथम चक्रवर्ती हूँ। इस तरह सोचते सोचते अभिमानी भरत वृषभाचल नामक पर्वतके पास आ पहुँचे। उनके मनमें हुआ कि यह पर्वत बड़ा मनोहर है, क्योंन इसके ऊपर अपनी दिग्विजयका सूचक लेख अंकित किया जाये। यह विचार आते ही चक्रवर्ती भरत हर्षोत्फुल्ल होकर हाथमें काकणीरत्न लेकर अभिमानपूर्वक वृषभाचलके निकट पहुँचे। ज्यों ही वह कुछ लिखनेको हुए त्योंही उनकी दृष्टि वहाँ खुदे हुए हजारों चक्रवर्ती राजाओंके नामोंपर पड़ी। यह देखकर भरतको बहुत विस्मय हुआ और उनका अहंकार कुछ कम हुआ। अन्तमे उन्हें किसी एक चक्रवर्तीके नामको मिटाकर ही अपना नाम लिखना पड़ा। संसारकी स्वार्थपरायणताका यह एक उदाहरण था।

इसके पश्चात् वहाँसे प्रस्थान करके चक्रवर्ती भरत उस स्थानको देखने गये जहाँ हिमवान् पर्वतसे गंगा नदी गिरती है। वहाँसे उन्होंने गंगाके किनारे प्रस्थान किया और इस प्रकार उत्तर भरतको जीत करके पुनः विजयार्ध पर्वतकी तलहटीमें आ पहुँचे। वहाँ ठहरकर उन्होंने सेनापतिको आज्ञा दी कि विजयार्धकी इस दूसरी गुफाका द्वार भी खोलकर पूर्वखण्डपर विजय प्राप्त करो। जब तक सेनापति उधरके म्लेच्छदेशोंको जीतकर वापिस आया तब तक महाराज भरत वहीं ठहरे रहे। इस बीचमें विद्याधरोंके राजा नमि और विनमि भरतके दर्शनोंके लिये आये। उन्होंने

उपहारमें अनेक रत्नोंके साथ अपनी बहिन सुभद्रा भी चक्रवर्ती-को अर्पित कर दी। भरतने उसके साथ वहीं विवाह किया।

सेनापतिके लौट आनेपर महाराज भरतने अपनी सेनाके साथ विजयार्ध पर्वतकी दूसरी गुफामे प्रवेश किया और उसमेंसे होते हुए पुनः दक्षिण भरतमे लौट आये।

इस प्रकार समस्त पृथिवीको जीतकर चक्रवर्तीने अयोध्या नगरीकी ओर प्रस्थान किया और गंगा नदीके किनारे किनारे अनेक देशोंको लॉघते हुए कैलास पर्वतके समीप पहुंचे। वहॉ पहुॅचकर उन्होंने सेनाको तो वहीं ठहरा दिया और स्वयं भगवान् ऋषभदेवकी पूजाके लिये प्रस्थान किया। उनके पीछे पीछे अनेक राजा लोग भी गये। सवारियोंको पर्वतके नीचे ही छोड़कर महाराज भरत पर्वतपर पैदल ही चढ़ने लगे। चढ़ते चढ़ते वे एक वन खण्डमेंसे होकर गुजरे। उस वनमे कही तो अपने बच्चोंके साथ लेटी हुई हरणियॉ धीरे धीरे घास चबा रहीं थीं, कहीं अजगर पड़े सोते थे, और कहीं सिंह-शिशु क्रीड़ा कर रहे थे। अत्यन्त पवित्र शान्ति छाई हुई थी और हिंस्र जन्तु भी अपनी स्वभावगत क्रूरताको भूल गये थे। यह सब भगवान ऋषभदेवका प्रभाव था, जो कैलास पर्वतपर समवसरण सहित विराजमान थे।

महाराज भरतने पर्वतपर पहुॅच कर समवसरणको देखा और उसके अन्दर भक्तिपूर्वक प्रवेश किया। दूरसे भगवानको देखते ही भरत आनन्दसे भर गये। उन्होंने अपने दोनो घुटने जमीन पर टेककर भगवानको नमस्कार किया तथा उनकी पूजा भी की। पूजाके पश्चात् भगवानकी स्तुवि करके वे कैलास पर्वतसे उतर आये और उन्होंने अयोध्या नगरीकी ओर प्रस्थान किया।

---

१३ भरतके छोटे भाइयोंका गृहत्याग

अयोध्या पहुंचकर चक्रवर्ती भरतको नगरके बाहर ही रुक जाना पड़ा; क्योंकि सेनाके आगे आगे चलनेवाला चक्ररत्न नगरके मुख्य द्वार पर जाकर रुक गया और द्वारको लांघकर आगे नहीं जा सका। यह देखकर सब आश्चर्य चकित रह गये। सेनापतिने चक्रवर्तीसे कहा। वे भी आश्चर्य करते हुए विचारमे पड़ गये। जिसकी गति कहीं भी नहीं रुकी अपने ही नगरमें आकर उसकी गति रुक जाना एक अनहोनीसी बात थी।

भरतने तुरन्त ही अपने मंत्रियों और पुरोहितको बुलवाया और पूछा—जो चक्ररत्न समस्त दिशाओंको जीतनेमें कहीं नहीं रुका वह आज मेरे ही नगरके द्वार पर आकर क्यों रुक गया है? क्या मेरे साम्राज्यमें ही कोई शत्रु मौजूद है, अथवा मेरे वंशमे ही कोई ऐसा व्यक्ति है जो मेरे उत्कर्षको नहीं सह रहा है? चक्ररत्न-की गति बिना किसी विशेष कारणके नहीं रुक सकती। अतः आप अच्छी तरह विचारकर इसका कारण बतलायें।

भरतका जिज्ञासापूर्ण प्रश्न सुनकर पुरोहित कहने लगा—देव! हमने निमित्तज्ञोंके मुखसे सुना है कि जबतक कुछ भी दिग्विजय करना शेष रहता है तब तक चक्ररत्न कभी भी नहीं रुकता। इस लिए नगरके द्वार पर चक्ररत्नके रुकनेसे ऐसा प्रतीत होता है, कि अब भी कोई जीतनेसे शेष रह गया है और वह बाहर नहीं है, घरमें ही है। नाथ! यद्यपि आपने बाहरके शत्रुओंको जीत लिया है, तथापि आपके भाइयोंने आपको नमस्कार नहीं किया है। वे आपके विरुद्ध हैं। उन्होंने निश्चय किया है कि हम भगवान ऋषभदेवके सिवाय अन्य किसीको नमस्कार नहीं करेंगे। आपके सभी भाई बड़े बलवान् हैं, किन्तु उनमें भी बाहुबलि मुख्य हैं। अतः इसका शीघ्र ही प्रतिकार होना चाहिए, क्योंकि नीतिज्ञोंका

कहना है कि आगकी एक चिनगारीकी भी उपेक्षा नहीं करनी चाहिए।

पुरोहितके वचन सुनकर चक्रवर्ती भरत एक दम क्रुद्ध हो गये और लाल लाल आंखे निकाल कर कठोरता पूर्वक बोले—क्या कहा ? मेरे ही दुष्ट भाई मुझे नमस्कार नहीं करते ? मैं उनके टुकड़े टुकड़े कर डालूगा। वे सोचते हैं कि एकही कुलमे उत्पन्न होनेके कारण हम अवध्य हैं हमे कोई मार नहीं सकता। उनका यह मिथ्या विश्वास शीघ्र ही दूर हो जायेगा। वे पिताजीके द्वारा दी हुई भूमिको विना कर दिये ही भोगना चाहते हैं किन्तु ऐसा नहीं हो सकता। अब या तो उन्हें यह घोषणा करनी होगी कि इस पृथिवीका स्वामी भरत है और हम सब उसके अधीन हैं, या रणमे मृत्युका आलिंगन करना होगा। सबसे अधिक खेद तो मुझे बाहुबलिके प्रति है, मैं उसे भ्रातृप्रेमी समझता था। किन्तु अब मैं उसे नही छोड़ सकता। बाहुबलीके सिवाय अन्य भाइयोंने मुझे नमस्कार भी किया तो उससे क्या ? उसके पोदनपुरके विना यह विस्तृत साम्राज्य भी मेरे लिये विषके समान हैं।

चक्रवर्तीको क्रोधान्ध देखकर पुरोहितने उपदेशपूर्ण बचनोंसे शान्त करते हुये कहा—देव ! इस अपकार करने वाले क्रोधको दूर कीजिए। जितेन्द्रिय मनुष्य केवल क्षमासे ही पृथिवीको जीतते हैं। अतः चतुर दूतोंको भेजकर अपने भाइयोंको वशमे करना ही उचित है। इससे आपका यश होगा। यदि वे शान्तिसे वशमें न हों तो फिर आगेका बिचार करना चाहिये।

पुरोहितके हितकर बचन सुनकर भरत एकदम शांत हो गये और उन्होंने बाहुबलीको छोड़ कर पहले शेष भाइयोंके पास ही दूत भेजना उचित समझा। दूतोंने जाकर चक्रवर्तीका सन्देश सुनाया। सुनकर सब भाईयोने परस्परमें परामर्श करके दूतसे

कहा—'दूत ! भरतका कहना उचित है क्योंकि पिताके अभावमें बड़ा भाई ही पूज्य होता है। किन्तु हमारे पिता अभी विराजमान हैं और यह राज्य भी उन्हींका दिया हुआ है। अतः हम उन्हीं-की आज्ञाके अधीन हैं। भरतसे न हमे कुछ लेना है और न देना है।' इतना कहकर उन भाईयोंने दूतको सन्मान पूर्वक विदा किया और स्वयं कैलाश पर्वतपर विराजमान भगवान ऋषभदेवकी सेवामे उपस्थित होकर निवेदन किया—देव ! आपने ही हमें जन्म दिया है और आपने ही यह विभूति दी है अतः हम आपके सिवाय अन्य किसीकी सेवा करना नहीं चाहते। फिर भी भरत-ने कहलाया है कि आकर मुझे नमस्कार करो। किन्तु हम इस जन्मसे तो क्या पर जन्ममें भी आपके सिवाय किसी अन्य देव और मनुष्यको प्रणाम करनेमें असमर्थ हैं। अतः हम आपके समीपमें उस जिनदीक्षाको धारण करनेके लिए आये है, जिसमें दूसरोंको प्रणाम करनेसे मानभंगका भय नहीं रहता। जो मार्ग हितकर और सुखकर हो, वह हम लोगोंको बतलाइये।

इतना कहकर राजकुमार चुप हो गये और जिज्ञासा पूर्वक भगवानके मुखकी ओर देखने लगे। भगवान बोले—भद्रो ! तुम मनस्वी और गुणी होकर दूसरोंके भारवाही कैसे हो सकते हो ? यह राज्य और जीवन चंचल है, यौवनका उन्माद एक नशा है, सैन्य शक्ति बलवानके द्वारा पराजित होजाती है, धन सम्पत्तिको चोर चुरा ले जाते हैं तथा वह तृष्णारूपी अग्निको भड़कानेके लिए ईन्धनके तुल्य है अतः ये सब व्यर्थ हैं। चिरकाल तक भोग कर भी जिनसे तृप्ति नहीं होती, उल्टे खेद ही होता है, ऐसे ये विषय भी विषमिश्रित भोजनके समान हैं। फिर ऐसे कौनसे विषय हैं जिन्हें तुमने भोगा नहीं है ? बार बार भोगे हुओंको ही भोगनेसे क्या कभी तृप्ति हो सकती है ? जिस राज्यमें शत्रु मित्र

और भाई बन्धु शत्रु हो जाते हैं तथा सर्व भोग्या इस पृथिवीको भोगना पड़ता है, ऐसे राज्यको धिक्कार है। जबतक भरतके पुण्य-का उदय है तबतक वह इस पृथिवीको भले ही भोग ले, किन्तु एक दिन उसे भी इन नश्वर राज्यको छोड़ना ही पड़ेगा। इसलिए इस अस्थायी राज्यके लिये तुम लोग क्यों व्यर्थ आपसमें लड़ते हो? यदि लड़ना ही है तो आत्माके शत्रु उन कर्मोंसे लड़ो जिन्होंने तुम्हें चिरकालसे अपना दास बना रखा है।

भगवानके बचन सुनकर राजकुमार गद्गद् हो गये और उन्होंने जिनदीक्षा धारण करली।

१४ भाई भाईमें युद्ध

भरतके छोटे भाइयोंनें राज्यका त्याग कर दिया किन्तु फिर भी महाराज भरतका मन निराकुल नहीं हो सका। बलवान् बाहुबली अभी भी राज्यासीन था और उसको अनुकूल करना सरल नहीं था। भरत जानते थे कि बाहुबलशाली बाहुबली सामान्य संदेशों-से वश नहीं हो सकता। अन्य क्षत्रिय युवाओंमें और बाहुबली-में उतना ही अन्तर था जितना हरिणोंमें और सिंहमें अन्तर होता है। वह बड़ा नीतिज्ञ था अतः भेदनीतिसे भी सफलता मिलने की आशा नहीं थी। बड़ा पराक्रमी था, इस लिए युद्धसे भी उसे वशमें नहीं किया जा सकता था। और स्वभावसे बड़ा उग्र था अतः शान्तिसे भी समस्या हल नहीं हो सकती थी। इन कारणोंसे चक्रवर्ती भरत बहुत ही चिन्तित थे और उसका शीघ्र ही प्रतिकार करना चाहते थे। बहुत सोच विचारके पश्चात् उन्होंने एक चतुर दूत बाहुबलीके पास भेजा।

अपनी कार्य सिद्धिके लिए अनेक उपाय सोचता हुआ राजदूत पोदनापुर पहुँचा। नगरके बाहर पके हुए धानके खेत

लहलहा रहे थे और किसान कटाईमें लगे हुए थे। ईखके खेतोंमें गायें चर रही थीं, उनके थनोंसे दूध झरा पड़ता था। किसानों-की स्त्रियाँ खेतोंमें बैठकर पक्षियोंको भगा रहीं थीं। ये सब मोहक दृश्य देखते हुए दूतने नगरमें प्रवेश किया और राजभवनके आँगनमें पहुंचकर द्वारपालके द्वारा अपने आगमनका समाचार कहलाया।

जब दूत राजदरबारमें उपस्थित हुआ तो क्षात्रतेजके पुंज महाराज बाहुबलिपर दृष्टि पड़ते ही कुछ घबरासा गया। विनम्र मस्तकसे आकर दूतने बाहुबलिको नमस्कार किया और बाहुबलिने सत्कारपूर्वक उसे अपने पास बिठाया।

जब दूत अपना स्थान ग्रहण कर चुका तो बाहुबलीने मुस्कराते हुए कहा—भद्र! समस्त पृथिवीके स्वामी आपके चक्रवर्ती कुशलसे तो हैं? आज बहुत दिनोंमें उन्होंने हमलोगो-को स्मरण किया है। सुना है उन्होंने सब राजाओंको जीत लिया है और सब दिशाओंको अपने अधीन कर लिया है। उनका यह कार्य समाप्त हो चुका या कुछ शेष है?

दूत विनय पूर्वक बोला—देव! हम लोग दूत हैं, अपने स्वामीकी आज्ञानुसार चलना हमारा धर्म है। इसलिये चक्रवर्ती-ने जो उचित आज्ञा दी है उसे स्वीकार करलेनेमे ही आपका गौरव है। भरत प्रथम चक्रवर्ती है, आपका बड़ा भाई है। उसने सब पृथिवीको अपने वशमें कर लिया है। देवता उसे नमस्कार करते हैं। उसके एक ही बाणने महासमुद्रके अधिपति व्यन्तर देवको उसका किंकर बना दिया। विजयार्ध पर्वतकी दोनो श्रेणियोंके विद्याधरोंने भी उसका जयघोष किया। उत्तर-भरतमे जाकर वृषभाचलपर उसने अपनी प्रशस्ति अंकित की। अब देव उसके सेवक हैं और लक्ष्मी दासी है। उन्हीं महाराज

भरतने अपने आशीर्वादसे आपका सन्मानकर आज्ञा की है कि समुद्रतक फैला हुआ यह राज्य भाई बाहुबलीके बिना शोभा नहीं देता। अतः आप भरतके समीप जाकर उन्हें प्रणाम करें। भरतकी आज्ञा कभी व्यर्थ नहीं जाती, जो उसकी आज्ञाका उल्लंघन करते हैं, उनपर चक्ररत्नका अव्यर्थ प्रहार होता है। अतः आप शीघ्र ही चलकर उनका मनोरथ पूर्ण करें। आप दोनो भाइयोंके मिलापसे यह संसार भी मिलकर रहना सीखेगा।

दूतके वचन सुनकर मन्द मन्द हँसते हुए धीर वीर बाहुबलि कहने लगे—दूत! जिन्हे शान्तिसे भी वश नहीं किया जा सकता उनके साथ अहंकारका प्रयोग करना मूर्खता है। भरत उम्रमें बड़े हैं किन्तु बूढ़ा हाथी सिहके बच्चेकी बराबरी नहीं कर सकता। यह ठीक है कि बड़ा भाई पूज्य होता है किन्तु जिसने सिरपर तलवार रख छोड़ी है उसे प्रणाम करना कहाँकी रीति है? भगवानने हम दोनोको ही राजपद दिया था, यदि भरत लोभमे पड़कर 'राजराज' बनना चाहते हैं तो भले ही बनें, किन्तु हम तो अपने सुराज्यमे रहकर राजा ही बने रहना पसन्द करते हैं। वह हमे बच्चोकी तरह फुसलाकर तथा हमसे प्रणाम करवाकर भूमिका टुकड़ा देना चाहता है किन्तु हमारे लिये भरतका दिया भूमिखण्ड खलीके टुकड़ेकी तरह तुच्छ है। मनस्वी पुरुष अपनी भुजाओंके परिश्रमसे प्राप्त अल्प फलमे ही सन्तुष्ट रहते हैं। जो पुरुष राजा होकर भी अपमानसे मलिन विभूतिको स्वीकार करता है वह नरपशु है और उसकी विभूति एक भार है। मान-भंग कराकर प्राप्त हुई भोग सम्पदामे अनुरक्त मनुष्य मनुष्य नहीं, पशु है। मुनि भी जब स्वाभिमानको नही छोड़ते तब फिर राजपुरुष कैसे अपना अभिमान छोड़ सकता है? वनमें जाकर रहना अच्छा है और प्राणोंको छोड़ देना भी अच्छा है, किन्तु

स्वाभिमानी पुरुषके लिये किसीका दास होना अच्छा नहीं है। धीर मनुष्य प्राण देकर भी मानकी रक्षा करते हैं क्योंकि मान-पूर्वक कमाया हुआ यश ही संसारकी शोभा है। अतः अपने चक्रवर्तीसे जाकर कह देना कि या तो इस पृथ्वीका वही उपभोग करेगा या मैं ही उपभोग करूँगा। हम दोनोंका जो कुछ होना होगा वह युद्धभूमिमे ही होगा।

इस प्रकार कहकर स्वाभिमानी बाहुबलिने दूतको बिदाकर दिया और युद्धकी तैयारीका आदेश दिया। उधर जब दूतके मुखसे बाहुबलीका निर्णय ज्ञात हुआ तो भरतने भी अपनी सेना-के साथ पोदनपुरकी ओर प्रस्थान किया। दोनों ओरकी सेनाएँ रणभूमिमे आ डटीं और दोनों पक्षके शूरवीर योद्धा अपनी अपनी सेनाकी व्यूह रचना करनेमें जुट गये।

इधर सेनापति युद्धकी तैयारियाँ कर रहे थे उधर मन्त्रीगण विचार विमर्शमे लगे हुए थे। उनका कहना था कि ये दोनों ही भाई चरमशरीरी है, अतः युद्धसे इनकी कुछ भी क्षति नहीं होगी, केवल दोनों ही पक्षके योद्धा मारे जायेंगे और व्यर्थमे भोषण नरसंहार होगा। यह विचारकर दोनो ही पक्षोके मंत्रियोने अपने स्वामीकी अनुमति लेकर उनके सामने यह विचार रक्खा कि निष्कारण नरसंहार करनेसे बड़ा अधर्म होगा और अपयश फैलेगा। बलाबलकी परीक्षा अन्य प्रकारसे भी हो सकती है। अतः आप दोनो भाई तीन प्रकारका युद्ध करें। और जिसकी पराजय हो वह उसे भ्रकुटी टेढ़ी किये विना सहन करे तथा जिसकी विजय हो वह उसे बिना अहंकारके वरण करे, भाई-भाईका यही धर्म है। सब राजाओं और मन्त्रियोंके आग्रहसे दोनों भाइयोंने इस विचारको स्वीकार किया। तुरन्त ही सेनामें यह घोषणाकर दी गई कि जलयुद्ध, दृष्टियुद्ध और बाहुयुद्धमें दोनोंमें

से जो विजयी होगा वही जयलक्ष्मीका स्वामी माना जायेगा।

इस घोषणाके पश्चात् दोनों ओरके प्रमुख प्रमुख पुरुष अपने अपने स्वामीके साथ दोनों ओर बैठ गये। सबसे प्रथम दृष्टियुद्ध हुआ और उसमें बाहुबली विजयी हुए। अपने स्वामीकी विजयसे हर्षित होकर बाहुबलीकी सेना तुमुल जयघोष करने लगी। तब प्रमुख पुरुषों ने उसे ऐसा करनेसे रोककर मर्यादाकी रक्षा की।

इसके पश्चात् दोनों भाई जलयुद्ध करनेके लिए सरोवरमें उतरे और अपनी लम्बी भुजाओंसे एक दूसरेपर पानी फेंकने लगे। भरतसे बाहुबली लम्बे थे अतः भरतके द्वारा फेंका हुआ पानी बाहुबलीके विशाल वक्षस्थलसे टकराकर ऐसे लौटता था जैसे पर्वतसे टकराकर समुद्रकी लहर लौट आती है। और बाहुबलीके द्वारा उछाला गया जल भरतके मुख, आँख, नाक और कानोंमें भर जाता था। अतः जलयुद्धमें भी भरतके पराजित होनेसे बाहुबलीकी सेनाने पुनः जयघोष किया।

इसके पश्चात् दोनो नरशार्दूल बाहुयुद्धके लिए रंगभूमिमें उतरे। दोनोंने हाथ मिलाये, ताल ठोंकी, पैंतरे बदले और फिर आपसमें भिड़ गये। अचानक बाहुबलीने चक्रवर्ती भरतको दबोच लिया और उन्हें एक हाथसे ऊपर उठाकर अलात चक्र (बरैंठी) की तरह घुमा डाला। बाहुबली चाहते तो चक्रवर्ती-को जमीनपर पटक सकते थे किन्तु उन्होंने उनकी पद मर्यादाका विचार करके वैसा नहीं किया और चक्रवर्तीको अपने कन्धेपर बैठा लिया। उस समय बाहुबलीके पक्षमें तुमुल जयघोष हुआ और भरतपक्षके राजाओंने लज्जासे अपने सिर झुका लिये।

दोनों पक्षोंके सामने हुए अपमानसे चक्रवर्ती भरत क्रोधसे अन्धा हो गया। उसने नीति-अनीतिका विचार किये बिना चक्ररत्नका स्मरण किया और उसे बाहुबलीपर चला दिया। चक्रने

बाहुबलीके पास जाकर, उसकी प्रदक्षिणा की और तेजहीन होकर वहीं ठहर गया। अब तो बड़ों बड़ोंने चक्रवर्तीको धिक्कारा और उनके इस अकृत्यके लिए खूब ही उनकी भर्त्सना की। चक्रवर्ती को और भी अधिक लज्जित और तिरस्कृत होना पड़ा। उस समय उनके मनकी व्यथाका पार नहीं था।

उधर दोनों पक्षके प्रमुख राजाओंने समीप जाकर बाहुबली-की प्रशंसा करते हुए उनका खूब आदर सत्कार किया। उस समय बाहुबलीने भी अपनेको बड़ा अनुभव किया। किन्तु जो घटना घट चुकी थी उसने बाहुबलीको विचार सागरमे डाल दिया। वह सोचने लगे—देखो, हमारे बड़े भाईने इस नश्वर राज्यके लिए कैसा लज्जाजनक कार्य किया है। यह साम्राज्यलक्ष्मी व्यभिचारिणी स्त्रीके तुल्य है जो एक स्वामीको छोड़कर दूसरे स्वामीके पास चली जाती है। फिर भी अविवेकी मनुष्य उसे नहीं छोड़ता। मालूम होता है भरतकी बुद्धि भ्रष्ट हो गई है तभी तो वह इस नश्वर राज्यको अविनश्वर मानता है।

इस प्रकार ज्यों ज्यों बाहुबली अपने बड़े भाईकी नीचता का विचार करते थे त्यों त्यों उन्हें घोर कष्ट होता था। अन्तमें वह भरतसे बोले—राजश्रेष्ठ! क्षणभरके लिये अपनी लज्जा छोड़कर मेरा कहा सुनो—तुमने आज बड़ा दुःसाहस किया है जो मेरे इस अभेद्य शरीरपर चक्रका प्रहार किया है। जैसे वज्रके बने पर्वतको वज्रसे कुछ भी हानि नहीं पहुँच सकती वैसे ही तेरा यह चक्र मेरा बाल भी बाँका नहीं कर सकता। दूसरे, तुमने जो अपने भाइयोंका घर उजाड़कर राज्य प्राप्त करना चाहा है सो उससे तुमने खूब धर्म और यश कमाया है। आने वाली पीढ़ियाँ कहेंगी कि आदिब्रह्मा ऋषभदेवके बड़े पुत्र चक्रवर्ती भरतने अपने कुलका अच्छा उद्धार किया था। पापसे

सनी हुई जिस राज्य लक्ष्मीको तू अविनाशी समझता है यह तुझे ही मुबारिक हो, अब यह मेरे योग्य नहीं है। अब तो मैं तपरूपी लक्ष्मीको स्वीकार करना चाहता हूं। मुझसे जो अपराध हुआ है उसे क्षमा करो। मैं अपनी चंचलताके कारण विनयको भूल बैठा इसका मुझे खेद है।

बाहुबलीकी इस उदार वाणीको सुनकर चक्रवर्तीके सन्तप्त हृदयमे कुछ शीतलता आई और वह अपने दुष्कृत्यके लिए पश्चाताप करने लगा। फिर तो उसने बाहुबलीकी बहुत अनुनय की, किन्तु बाहुबली अपने संकल्पसे विचलित नहीं हुए और अपने पुत्र महाबलीको राज्य देकर विरक्त हो वनमे जाकर तपस्या करने लगे। उन्होंने सब परिग्रहका त्याग करके एक वर्षका प्रतिमायोग धारण किया। धीरे धीरे उन्हें चारों ओरसे लताओं-ने वेष्टित कर लिया, सर्पोंने अपनी वामियॉ बनालीं और अपनी वामियोंसे निकल निकलकर वे बाहुबलीके शरीरपर निर्भय घूमने लगे। किन्तु ऐसी अवस्था होनेपर भी बाहुबली रंचमात्र भी ध्यानसे विचलित नहीं हुए। उनका शरीर सूखकर कृश हो गया था किन्तु कान्ति ज्योंकी त्यों थी। उनके माहात्म्यसे वह वन भी शान्त हो गया था। किसी भी प्राणीको कोई दूसरा प्राणी नहीं सताता था। उनके तेजसे पशुओंतकके हृदयका अन्धकार दूर हो गया था। वे परस्परमें किसीसे द्रोह नही करते थे। उनके चरणोंके समीप हाथी, सिंह आदि विरोधी जीव भी परस्परका वैर छोड़कर उठते बैठते थे।

इस तरहकी कठोर तपश्चर्या करते हुए भी बाहुबलीको केवल-ज्ञानकी प्राप्ति नहीं हुई। उनके चित्तमें यह शल्य थी कि मेरे निमित्तसे भरतेश्वरको बहुत दुःख पहुंचा। एक वर्ष पूरा होने पर एक दिन भरतने आकर मुनिराज बाहुबलीकी भक्तिभावसे

पूजाकी। भरतके पूजा करते ही बाहुबलीके हृदयकी शल्य निकल गई और उन्हें तत्काल केवलज्ञान हो गया। केवल ज्ञान-के पश्चात् भगवान बाहुबली भगवान ऋषभदेवके निवाससे पवित्र कैलास पर्वतपर जा पहुंचे।

१५ भरतेशकी सामाजिक व्यवस्था

जब भरत चक्रवर्ती भारतवर्षको जीतकर अपनी राजधानीमे लौट आये तो उनके चित्तमे यह चिन्ता उत्पन्न हुई कि परोपकार-में हमारी इस सम्पत्तिका उपयोग कैसे हो ? वह सोचने लगे—'मैं बड़े वैभवके साथ जिनेन्द्रदेवकी महामह पूजा करके धनदान के द्वारा समस्त जगतको सन्तुष्ट करना चाहता हूं। किन्तु मुनि-जन तो हमसे धन लेते नहीं हैं क्योंकि वे अत्यन्त निस्पृह होते है। रहे गृहस्थ, सो उनमें भी ऐसा कौन है जो धनधान्यके द्वारा पूजनेके योग्य हो ? जो अणुव्रतधारी और गृहस्थोंमें श्रेष्ठ है हमे इच्छित धनधान्यके द्वारा उन्हींका सन्मान करना योग्य है।

ऐसा निश्चय करके भरतराजने उचित पुरुषोंका सत्कार करनेकी इच्छासे सब राजाओको बुलवाया। और उनके पास सूचना भेज दी कि आपलोग अपने सदाचारी इष्ट मित्रों और सेवकोंके साथ हमारे उत्सवमे अलग अलग आयें। इधर चक्रवर्तीने उनकी परीक्षा करनेके लिये अपने महलके आँगनमें हरे अंकुर, पुष्प और फल फैलवा दिये। आगन्तुकोंमें जो अव्रती थे वे बिना विचारे उन हरित अंकुरोको खूँदते हुए राजमन्दिरमे घुस आये। भरतने उन्हें अलग कर दिया और बाकी बचे लोगों-को बुलवाया। किन्तु अपने व्रतके विचारसे उन लोगोंने तबतक नृप मन्दिरमे प्रवेश नहीं किया जबतक मार्गसे हरे अंकुर वगैरह-को नहीं हटा दिया गया। जब भरतने उनसे इसका कारण

पूछा तो वे बोले—आज पर्वके दिन हरे पत्र पुष्प वगैरहका विघात नहीं किया जाता, क्योंकि हम लोगोंने भगवानके मुखसे सुना है कि इनमें अनन्त निगोदिया जीव रहते हैं। अतः आपके आँगनमें हरे पत्र पुष्प फैले होनेसे हम उन्हें खूँदकर नहीं आ सके। आप इसका कोई अन्य कारण न समझें।

उनका उत्तर सुनकर भरत बहुत प्रसन्न हुए और उन्होंने उनकी प्रशंसा करते हुए उन्हे खूब दान सन्मान दिया। तथा पहचानके लिये उन्हें एकसे लेकर ग्यारहतककी संख्यावाले ब्रह्मसूत्र नामके सूत्रोंसे चिन्हित किया। अर्थात् एकसे लेकर ग्यारह प्रतिमाके धारी व्रती पुरुषोंको एकसे लेकर ग्यारहतक यज्ञोपवीत धारण कराये। फिर उन्हे जिनपूजा आजीविका, दान, स्वाध्याय, संयम और तप इन षट्कर्मोंका उपदेश दिया। और कहा—द्विजोंके यही षट् कर्म है। जो इनका पालन नहीं करता वह नाममात्रसे द्विज है गुणोसे द्विज नही है। तप, श्रुताभ्यास और जाति, ये तीन ब्राह्मण होनेके कारण हैं जो मनुष्य तप और श्रुताभ्याससे शून्य है वह केवल जाति (जन्म) से ही ब्राह्मण है। यद्यपि मनुष्यजाति एक ही है, फिर भी आजीविकाके भेदसे इस भरत क्षेत्रमें उसके चार भेद हो गये हैं। व्रतोंके संस्कारसे मनुष्य ब्राह्मण कहलाते हैं, शस्त्र धारण करनेसे क्षत्रिय कहे जाते है, न्यायपूर्वक धन कमानेसे वैश्य और नीच वृत्तिको अपनानेसे मनुष्य शूद्र कहे जाते हैं। जो एक बार गर्भसे और एक बार क्रियासे इस तरह दो बार उत्पन्न होता है उसे द्विज कहते हैं। परन्तु जो क्रिया और मन्त्रसे रहित है वह केवल नामधारी द्विज है।

इतना कहकर महाराज भरतने द्विजोको उनकी क्रियाओंका उपदेश दिया। उनमे ५३ गर्भान्वय क्रियाये हैं और ४८ दीक्षान्वय

क्रियाएँ हैं। ये क्रियाएँ गर्भसे लेकर मोक्षगमन तककी हैं। इनमें-से गर्भान्वय क्रियाएँ तो उन द्विजों (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य) के लिये हैं जो जन्मसे जैन धर्मावलम्बी हैं और दीक्षान्वय क्रियायें उन द्विजोंके लिये हैं जो मिथ्या धर्मको छोड़कर जैनधर्मकी दीक्षा लेते हैं। यहाँ इन दोनों क्रियाओंमेसे जिनरूप धारण पर्यन्त-की क्रियाओंको बतलाया जाता है।

पत्नीके ऋतु स्नानके पश्चात् जिनेन्द्रदेवकी पूजा तथा हवन आदि पूर्वक गर्भाधान करनेको आधान क्रिया कहते हैं। गर्भाधानके बाद तीसरे माहमे प्रीति नामकी क्रिया होती है। इसमे भी जिनेन्द्रदेवकी पूजा की जाती है और द्वारपर मंगल-कलश स्थापित किये जाते है। पाँचवे माहमे सुप्रीति क्रिया की जाती है। इसमें भी पूर्ववत् पूजन वगैरह की जाती है। सातवे महीनेमे पूर्ववत् धृति क्रिया की जाती है। नौवे महीनेमें मोद क्रिया है इसमे गर्भिणीके गर्भकी सुरक्षाके लिये कंकण सूत्र आदि बाँधे जाते है। प्रसूति होनेपर जो जात कर्म विधि की जाती है उसे प्रियोद्भव नामकी क्रिया कहते है। जन्मसे बारहवें दिन नाम कर्मकी क्रिया होती है। उस दिन पूजन पूर्वक बालकका नाम रक्खा जाता है। उसके पश्चात् दो तीन अथवा तीन चार मासके बाद गाजे बाजेके साथ बच्चेको घरसे बाहर लेजाना बहिर्यान क्रिया है। उस समय बालकको बन्धुजन धन वगैरह देते हैं। बालक जब बैठने योग्य हो उसे उत्तम आसनपर बैठाना निषद्या क्रिया है। जब बालक सात आठ मासका हो जाये तो जिनेन्द्रदेवकी पूजन करके बालकको अन्न खिलाना अन्न प्राशन क्रिया हैं। बालकके एक वर्षका होनेपर उसकी वर्षगाँठ मनाने-को व्युष्टि क्रिया कहते हैं। किसी शुभ दिनमें देवपूजा पूर्वक बालकका मुंडन करानेको केशवाय क्रिया कहते हैं। पाँचवें वर्षमें

बालकके अक्षराभ्यास प्रारम्भ करनेको लिपिसंख्यान क्रिया कहते हैं। चौदहवीं उपनीति क्रिया है यह आठवें वर्षमें की जाती है। इसमे प्रथम ही बालकसे जिनपूजा करानी चाहिये। फिर उसे व्रत देकर उसकी कमरमें मूँजकी रस्सी बाँधनी चाहिये, सफेद धोती, सफेद दुपट्टा और यज्ञोपवीत पहनाना चाहिये और भिक्षा भोजन कराना चाहिए। इसके पश्चात् व्रतचर्या नामकी क्रिया होती है। इसमें वह अणुव्रतोंको धारण करता है और ब्रह्मचर्याश्रममे प्रवेश करके शिक्षाभ्यास करता है। जबतक शिक्षा समाप्त नहीं होती तबतक बालक लकड़ीकी दातौन नहीं करता, पान नहीं खाता, अंजन नहीं लगाता, केवल शुद्ध जलसे प्रतिदिन स्नान करता है, पृथ्वीपर एकाकी सोता है और किसीसे सटकर उठता बैठता नहीं है। सबसे प्रथम उसे श्रावकाचार पढ़ाना चाहिये, फिर अध्यात्मशास्त्र पढ़ाना चाहिये, इसके पश्चात् व्याकरण, न्याय, अर्थशास्त्र आदि पढ़ानेमें कोई हानि नहीं है। ज्योतिष, छन्द, शकुन और गणितशास्त्रका भी विशेषरूपसे अध्ययन कराना चाहिये।

शिक्षा समाप्त हो चुकनेके पश्चात् व्रतावतरण क्रिया होती है। इसमे वह अध्ययनके समय लिये हुये विशेष व्रतोंको छोड़ देता है। किन्तु मद्य, मांस, मधु, पाँच उदुम्बर फल तथा हिंसा वगैरहका त्याग तो उसने जीवन पर्यन्तके लिये किया है, अतः उन व्रतोंको वह बराबर पालता है। इसके पश्चात् यदि वह शस्त्रोपजीवि क्षत्रिय वर्गका है तो शस्त्र धारण करता है, यदि क्षत्रिय वर्गका नही है तो भी अपने जीवनकी रक्षाके लिए अथवा शोभाके लिए शस्त्र धारण करता है। इसके पश्चात् विवाहकी क्रिया होती है। पवित्र स्थानमें सिद्ध प्रतिमाके सामने अग्निकी साक्षी पूर्वक वरवधूका विवाहोत्सव करना चाहिये। विवाहके पश्चात्

वरवधूको ब्रह्मचर्यपूर्वक देशाटन तथा तीर्थ क्षेत्रोंकी यात्रा करनी चाहिये। यात्रा करके घर लौटनेपर कंकण खोल देना चाहिये और ऋतुकालमें ही सन्तानके लिए कामभोग करना चाहिए।

विवाहके पश्चात् भी मातापिताके साथ रहनेके कारण वह परतन्त्र ही रहता है। अतः उसको स्वतन्त्र करनेके लिए वर्णलाभ क्रिया कही गई है। पिताकी आज्ञासे धन धान्य सम्पत्ति पाकर जब वह अलग मकानमें रहते हुए स्वतन्त्र आजीविका करने लगता है तो उसे वर्णलाभ क्रिया कहते हैं। यह क्रिया जिन-पूजन पूर्वक पंचोंके सामने की जाती है। उसका पिता पंचोंके सामने पुत्रको धनधान्य अर्पण करके कहता है कि यह धन लेकर-अब तुम अलग रहो, तुम्हें गृहस्थ धर्मका पालन करते रहना चाहिए। और जैसे मैंने अपने पिताके द्वारा प्राप्त धनसे यश और धर्म कमाया है उसी प्रकार तुम्हें भी यश और धर्म कमाना चाहिये।

वर्ण लाभके पश्चात् देवपूजा आदि षट्कर्म करते हुए निर्दोष रूपसे आजीविका करनेको कुलचर्या क्रिया कहते हैं। उसके पश्चात् जब वह धर्ममें दृढ़ रहता हुआ गृहस्थाचार्य पदको प्राप्त करता है उसे गृहीशिता क्रिया कहते हैं।

जब वह गृहस्थाचार्य अपने सुयोग्य पुत्रको घरका भार सौंप कर शान्तिपूर्वक अपना जीवन धर्म-कममे बिताता है तो उसे प्रशान्ति क्रिया कहते हैं। उसके पश्चात् घर छोड़ देनेको गृह-त्याग क्रिया कहते हैं। गृह त्याग करते समय अपने धनके तीन भाग करने चाहिये, एक भाग धर्म कार्यमे खर्च करना चाहिये, एक भाग घर खर्चके लिये रखना चाहिये और एक भाग ज्येष्ठ पुत्रके सिवा अन्य पुत्र-पुत्रियोंको बाँट देना चाहिये। ज्येष्ट पुत्र को घरका सब भार सौंपना चाहिये और पुत्रियोंको भी पुत्रोंके समान भाग देना चाहिए। दीक्षा ग्रहण करनेके पहले जो

कुछ क्रियायेंकी जाती हैं उन्हें दीक्षाद्य क्रिया कहते हैं। तथा वस्त्र आदि सब परिग्रहोंको छोड़कर जिनदीक्षा पूर्वक दिगम्बररूप धारण करनेको जिनरूपता क्रिया कहते हैं। इस प्रकार गर्भाधान-से लेकर जिनदीक्षा धारण पर्यन्त गर्भान्वय क्रियायें हैं जो एक सम्यग्दृष्टि कुलके उचित हैं।

आगे दीक्षान्वय क्रियाओंको कहते हैं—व्रतोंके धारण करने-को दीक्षा कहते हैं और दीक्षासे सम्बन्ध रखनेवाली क्रियाओं-को दीक्षान्वय क्रियायें कहते हैं। जब कोई मिथ्यादृष्टि भव्य जीव सन्मार्गको ग्रहण करनेके लिए तत्पर होता है तब पहली अवतार क्रिया होती है। प्रथम ही वह भव्य पुरुष किसी मुनिराज अथवा गृहस्थाचार्यके पास जाकर उनसे पूछता है कि निर्दोष धर्म कौनसा है, क्योंकि मुझे अन्य धर्म सुविचारित प्रतीत नहीं होते। तब मुनिराज उसे सच्चे वीतराग धर्मका उपदेश देते हैं और वह भव्य उसे सुनकर मिथ्यामार्गको छोड़ देता है और सन्मार्गमें मनको लगाता है। उस समय गुरु ही उसका पिता है और तत्त्वज्ञान ही गर्भ है। धर्म रूपी जन्मके द्वारा वह पुरुष तत्त्वज्ञान रूपी गर्भमें आता है। इसीसे इस क्रियाका नाम अवतार क्रिया है। यह क्रिया गर्भाधान क्रियाके तुल्य मानी जाती है। उसके पश्चात् वह भव्य गुरुके चरणों को नमस्कार करके विधि पूर्वक व्रत ग्रहण करता है। इसे दूसरी वृत्तलाभ क्रिया कहते हैं। उसके पश्चात् स्थानलाभ नामक तीसरी क्रिया होती है। इसकी विधि इस प्रकार है—जिनालयमें पवित्र स्थानपर समवसरण मण्डलकी रचना करके पूजा करे। पूजा सम्पूर्ण होनेपर आचार्य उस पुरुषको जिनप्रतिमाके सन्मुख बैठाकर बार बार उसके सिरपर हाथ फेरते हुए कहे कि यह तेरी श्रावक दीक्षा है, तू इस दीक्षासे पवित्र हुआ। फिर

'यह मंत्र तुझे समस्त पापोंसे मुक्त करे' ऐसा कहते हुए उसे पंच नमस्कार मंत्रका उपदेश दे। इस स्थानलाभ अथवा श्रावक दीक्षा-के पश्चात् जब वह मनुष्य कुदेवोंको पूजना छोड़कर उन्हें अपने घरसे विदा कर देता है तो चौथी गणग्रह नामकी क्रिया होती है। इसके पश्चात् वह मनुष्य जिनेन्द्रदेवकी पूजा तथा उपवास आदि करते हुए द्वादशांग सम्बन्धी ग्रन्थोको सुनता है। इसे पूजा-राध्य क्रिया कहते है। फिर वह साधर्मियोके साथ चौदह पूर्व-सम्बन्धी शास्त्रोका श्रवण करता है। इसे पुण्य यज्ञ क्रिया कहते हैं। इस प्रकार जैन शास्त्रोंके अध्ययनके पश्चात् वह अन्य मतोंके शास्त्रोको पढ़ता है। इसे दृढ़चर्या क्रिया कहते है। पर्वके दिन उपवास करके रात्रिके समय प्रतिमायोग धारण करनेको उप-योगिता क्रिया कहते हैं। इसके पश्चात् उपनीति क्रिया होती है। देव और गुरुकी साक्षीपूर्वक वेष, वृत्त और समयके विधिपूर्वक पालन करनेको उपनीति क्रिया कहते हैं। सफेद वस्त्र और जनेऊ आदि धारण करना वेष है। आर्योंके योग्य षट्कर्मोंसे जीविका करना वृत्त है और जैन श्रावककी दीक्षाका नाम समय है। इसके पश्चात् उसके गोत्र जाति आदि बदल जाते हैं।

उपनीति क्रियाके पश्चात् उपासकाध्ययन (श्रावकाचार) का भले प्रकार अध्ययन करके व्रतादि धारण करनेको व्रतचर्या क्रिया कहते हैं। विद्याध्ययन करनेके पश्चात् गुरुके पास फिरसे अपने वस्त्राभूषण धारण करनेको व्रतावतरण क्रिया कहते है।

आशय यह है कि जैसे गर्भान्वय क्रियाओंमें बालकके लिए आठ वर्षकी अवस्था होनेपर ब्रह्मचर्यापूर्वक गुरुकुलमे रहकर

१—जैनोपासक दीक्षा स्यात् समयः समयोचितम्। दधतो गोत्रजात्यादि नामान्तरमतः परम्॥ ५६॥ महापु० पर्व० ३६।

विद्याध्ययन करनेके विधि बतलाई है और विद्याध्ययन समाप्त होनेके पश्चात् वह बालक विद्याध्ययनके लिए स्वीकृत व्रतोंको छोड़कर गृहस्थाश्रममें प्रवेश करता है। वैसे ही नया धर्म अंगीकार करके नया जन्म लेनेवाला गृहस्थ भी उपनीति क्रियापूर्वक विद्याध्ययन करके पुनः अपना गृहस्थवेष अंगीकार करता है। इस व्रतावतरण क्रियाके पश्चात् विवाह क्रिया होती है। इसमें वह अपनी पूर्व विवाहित पत्नीको श्रावक दीक्षा देकर पुनः उसके साथ विधिपूर्वक विवाह करता है। इसके पश्चात् उसकी वर्णलाभ क्रिया होती है। इसकी विधि इस प्रकार है—वह भव्य पुरुष चार मुखिया श्रावकोंको बुलाकर उनसे कहे—मैंने श्रावकधर्मकी दीक्षा लेली है। गृहस्थोके सम्पूर्ण धर्मको मैं पालता हूँ, दान देता हूँ, पूजन करता हूँ, गुरुकी कृपासे मैंने नया जन्म धारण किया है और कुल परम्परासे चले आये हुए आचार धर्मको छोड़कर सम्यक् आचारको स्वीकार किया है। व्रतोंकी सिद्धिके लिए ही मैंने उपनीति क्रिया भी की है और अब मैं विद्वान भी हो गया हूँ और मैंने श्रावकाचार भी पढ़ लिया है। यह सब करके ही मैंने अपने वस्त्राभूषण धारण किये हैं। तथा पत्नीको भी श्रावकधर्ममे दीक्षित करके उसके साथ पुनः विधिपूर्वक विवाह किया है। अतः अब मुझे आप अपनेमें सम्मिलित करनेकी कृपा करें'। उसके ऐसा कह चुकनेपर वे श्रावक कहे कि तुम्हारा कहना उचित ही है, तुम्हारे समान दूसरा द्विज कौन है ? आप जैसे पुरुषोंके न मिलनेपर ही हमे अपने समान जीविका करनेवाले मिथ्यादृष्टियों-के साथ सम्बन्ध करना पड़ता है। ऐसा कहकर वे उसे वर्णलाभ-से युक्त करें। ऐसा करनेसे वह श्रावक उन श्रावकोंके समकक्ष (बराबर दर्जेवाला) हो जाता है। इसके पश्चात्की क्रियाएँ पहले कही गईं गर्भान्वय क्रियाओंके समान ही हैं।

इस प्रकार धार्मिक क्रियाओंमें निपुण महाराज भरतने राजाओंकी साक्षीपूर्वक अच्छे व्रतोंको धारण करनेवाले मनुष्यों-को अच्छी शिक्षा देकर ब्राह्मण वर्णकी स्थापना की।

---

१६ भरतेशके स्वप्नोंका फल

एक दिन चक्रवर्ती भरतने कुछ स्वप्न देखे। उन्हें वे बुरा फल देनेवाले प्रतीत हुए। उन स्वप्नोंके देखनेसे भरतके चित्तमें कुछ खेद हुआ और उन्होंने उनका यथार्थ फल जाननेके लिये भगवान ऋषभदेवके दर्शन करनेका विचार किया। इसके सिवाय उन्होंने जो ब्राह्मण वर्णकी नवीन सृष्टि की थी उसे भी वे भगवान-के चरणोंमे बैठकर निवेदन करना चाहते थे। तथा उन्हे भगवान-का दर्शन किये हुए भी बहुत समय हो चुका था। अतः चक्रवर्तीने राजाओंके साथ भगवानकी बन्दना करनेके लिये प्रस्थान किया।

दूरसे ही समवसरणको देखकर भरतने दोनों हाथ मस्तकसे लगा नमस्कार किया। फिर समवसरणकी प्रदक्षिणा देकर भीतर प्रवेश किया और गन्ध कुटीके पास पहुंचे। पहुंचते ही उन्होंने भगवानको नमस्कार किया और विधिपूर्वक स्तुति तथा पूजा करके धर्मोपदेश श्रवण किया। उसके पश्चात् उन्होंने भगवानसे निवेदन किया—भगवन्! मैंने आपके द्वारा कहे हुए उपासका-ध्ययन सूत्रके अनुसार चलनेवाले ब्राह्मणोंकी सृष्टि की है तथा ग्यारह प्रतिमाओंके विभागके अनुसार व्रतोंके चिन्हस्वरूप एकसे ग्यारहतक उन्हें यज्ञोपवीत दिये हैं। धर्मके साक्षात् प्रणेता आपके होते हुए भी मैंने मूर्खतावश यह कार्य कर डाला है। मैंने यह उचित किया या अनुचित किया, इस द्विविधामे मैं पड़ा हुआ हूँ। अतः इसके गुण-दोषको बतलाकर मेरा सन्देह दूर करें। इसके

सिवाय आज रात्रिमें मैने सोलह स्वप्न देखें हैं, मुझे ये स्वप्न अनिष्ट फल देनेवाले जान पड़ते हैं। कृपा करके उनका फल भी कहिये।

भरतका प्रश्न समाप्त होनेपर ज्योंही जगद् गुरू भगवान् कुछ कहनेको उद्यत हुए सभामें सन्नाटा छा गया और समस्त श्रोता चित्रलिखितसे हो गये। भगवान् कहने लगे—हे वत्स! तूने जो धर्मात्मा द्विजोंका आदर सत्कार किया यह उचित ही किया। परन्तु इसमें कुछ दोप है। जबतक चतुर्थ काल रहेगा तबतक तो इनका आचार ठीक रहेगा। किन्तु पञ्चम काल आनेपर ये जाति अभिमानके कारण सदाचारसे भ्रष्ट होकर सन्मार्गके विरोधी बन जायेंगे, मधु मांसके प्रेमी बनकर अहिंसा धर्मको दूषित करेंगे और हिंसा धर्मका पोषण करेंगे। उस समय उनका यह यज्ञोपवीत व्रतचिन्ह न रहकर पापका चिन्ह हो जायेगा। अतः यद्यपि यह ब्राह्मण वर्णकी रचना कालान्तरमें बुराई उत्पन्न करानेवाली है फिर भी इस समय उसको समाप्त नहीं करना चाहिये, क्योंकि अभी तो ये धर्मात्मा ही रहेंगे।

ब्राह्मण वर्णकी रचनाका गुण-दोष बतलाकर भगवान् स्वप्नोंका फल बतलाते हुए कहने लगे—तूने जो स्वप्न देखे हैं वे भी आगामी कालमें धर्मके ह्रासको सूचित करते हैं—तूने जो स्वप्नमें इस पृथ्वीपर एकाकी विहारकर पर्वतके शिखरपर चढ़े हुए तेईस सिंहोंको देखा है उसका फल यह है कि महावीर स्वामीके सिवाय शेष तेईस तीर्थङ्करोंके समयमें दुर्नयोंकी उत्पत्ति नहीं होगी। दूसरे स्वप्नमे अकेले सिहके पीछे चलनेवाले हरिणोंका झुंड देखनेसे यह सूचित होता है कि महावीर स्वामीके तीर्थमें परिग्रह धारी बहुतसे कुलिंगी हो जायेंगे। तीसरे स्वप्नमें हाथीका बोझ उठानेसे जिसकी पीठ झुक गई है ऐसे घोड़ेको देखनेसे यह सूचित होता है कि पंचम कालके साधु तपके समस्त गुणोंको

धारण नहीं कर सकेंगे। कुछ मूलगुण और उत्तर गुणोंको पालने-की प्रतिज्ञा लेकर उनके पालनेमें आलसी हो जायेंगे। कुछ उन गुणोंको मूलसे ही भंग कर देगें और कुछ उनसे उदासीन हो जायँगे। चौथे स्वप्नमें सूखे पत्ते खानेवाले बकरोंका समूह देखने-से यह सूचित होता है कि आगामी कालमें मनुष्य सदाचारको छोड़कर दुराचारी हो जायेंगे। पाँचवें स्वप्नमें हाथीके कन्धेपर चढ़े हुए बकरोंके देखनेसे सूचित होता है कि आगे चलकर प्राचीन क्षत्रिय वंश नष्ट हो जायँगे और अकुलीन लोग पृथ्वीका पालन करेंगे। छठे स्वप्नमें कौवोंके द्वारा उल्लूको त्रास दिया जाना देखनेसे सूचित होता है कि आगामी कालमें मनुष्य धर्म-की इच्छासे जैन मुनियोंके पास न जाकर अन्य मतके साधुओं-के पास जायेंगे। सातवें स्वप्नमें नाचते हुए बहुतसे भूतोंके देखने-से ज्ञात होता है कि लोग व्यन्तरोंको देव मानकर पूजेंगे। आठवें स्वप्नमें, जिसका मध्य भाग सूखा हुआ है और चारों ओर पानी भरा हुआ है ऐसे तालाबको देखनेसे सूचित होता है कि आर्य-खंडसे हटकर धर्म निकटवर्ती म्लेच्छ देशोंमें ही रह जायेगा। नौवें स्वप्नमें धूलसे मलिन रत्नोंका ढेर देखनेसे सूचित होता है कि पञ्चमकालमें ऋद्धिधारी मुनि नहीं होंगे। दसवें स्वप्नमें कुत्ते-को आदर सत्कार पूर्वक नैवेद्य खिलाते देखनेसे सूचित होता है कि अव्रती द्विज भी गुणी पात्रोंके समान सत्कार पायेंगे। ग्यारहवें स्वप्नमें तरुण बैलको जोरसे शब्द करते हुए घूमता देखनेसे सूचित होता है कि लोग तरुण अवस्थामे ही मुनिपदमें ठहर सकेंगे, अन्य अवस्थामें नहीं। मेघोंसे आच्छादित चन्द्रमा-को देखनेसे प्रतीत होता है कि पञ्चमकालके मुनियोंमें अवधि और मनःपर्यय ज्ञान उत्पन्न नहीं होंगे। आपसमें मिलकर एक साथ जाते हुए दो बैलोंके देखनेसे सूचित होता है कि पंचम

कालमें मुनिजन एक दूसरोंके आश्रयसे रह सकेंगे, एकाकी विहार करनेवाले नहीं होंगे। मेघोंसे आच्छादित सूर्यके देखनेसे सूचित होता है कि पञ्चम कालमें प्रायः केवलज्ञानरूपी सूर्य-का उदय नही होगा। सूखे वृक्षोंको देखनेसे सूचित होता है कि स्त्री-पुरुषोंका चरित्र नष्ट हो जायेगा। तथा सोलहवें स्वप्नमे सूखे हुए पत्तोंको देखनेसे सूचित होता है कि महा औषधियोंका रस नष्ट हो जायेगा। इन सब स्वप्नोंका फल कालान्तरमें होगा। अभी नहीं। इतना कहकर भगवान् मौन हो गये। भरत भगवान-को वारंवार नमस्कार करके अपने नगरमे लौट आए।

---

१७ क्षात्रधर्मका उपदेश

यह नियम है कि जैसा राजा होता है वैसी ही प्रजा होती है। सम्राट भरत धर्म प्रेमी था और धर्मात्मा लोगोंका सन्मान करता था। अतः उसकी प्रजा भी धर्मसे प्रेम करती थी। अपने राजा-को धर्मात्मा जानकर आश्रित राजा भी धर्मात्मा वन गये थे।

सवेरे उठते ही भरत धर्मात्मा पुरुषोंके साथ धर्मका विचार करते थे। उसके पश्चात् मंत्रियोके साथ अर्थ और कामका विचार करते थे। फिर देव और गुरुओंकी पूजा करके धर्मासनपर विराजमान होते थे और प्रजाके सदाचार तथा असदाचारका विचार करते थे। उसके पश्चात् अधिकारी पुरुषोंको यथोचित आदेश देकर राजदरबारमें पधारते थे और दरबारमे उपस्थित सामन्तोंमेंसे कितने हीको दर्शनसे, कितने हीको मुस्कानसे, कितने हीको बातचीतसे, कितने हीको सन्मानसे और कितने हीको दान आदिसे सन्तुष्ट करते थे। तथा भेंट लेकर आये हुए बड़े राजाओं और दूतोंको सन्मानित करके विदा करते थे। जो

कलाकार अपनी कलाका प्रदर्शन करनेके लिए उपस्थित होते थे उन्हे भी खूब पारितोषिक देकर सन्तुष्ट करते थे। इसके पश्चात् दरबार समाप्त करके भोजन करते थे, और फिर अन्तःपुरमे विश्राम करते थे। जब एक पहर दिन शेष रहता था तो अपने राजोद्यानमे भ्रमण करते हुए प्रकृतिकी शोभाका निरीक्षण करते थे।

चक्रवर्ती भरत धर्मशास्त्र, अर्थशास्त्र और कामशास्त्रके तो पण्डित थे ही, इनके सिवा वे हस्तितंत्र, अश्वतन्त्र, आयुर्वेद, निमित्तशास्त्र, शकुनशास्त्र और ज्योतिषशास्त्रके भी पारगामी थे। किसी भी शास्त्रका विद्वान् उनसे मिलनेके पश्चात् यही धारणा लेकर लौटता था कि चक्रवर्ती उस शास्त्रके पारगामी हैं। वे लोकाचारके प्रवर्तक थे तो राजशास्त्रके अधिष्ठाता थे। इस तरह उनमें लक्ष्मी और सरस्वतीका अद्भुत संयोग था।

एक दिन भरतने राजसभामें एकत्र हुए राजाओंको क्षात्रधर्मका उपदेश दिया। वे कहने लगे—हे क्षत्रिय श्रेष्ठो! आदि पुरुष भगवान् ऋषभदेवने आप लोगोको पीडितोकी रक्षा करनेके लिए नियुक्त किया है। प्रजाके हितमे न्यायपूर्वक वर्तन करना ही अपना कर्तव्य है। धर्म-पूर्वक धन उपार्जन करना, उसकी रक्षा करना, उसे बढ़ाना और योग्य पात्रको देना ही क्षत्रियोंका न्यायपूर्वक वर्तन करना है। क्षत्रिय पदकी प्राप्ति रत्नत्रयके प्रतापसे होती है क्योकि रत्नत्रयसे ही तीर्थङ्कर पद प्राप्त होता है और तीर्थङ्कर केवल क्षत्रियवंशमे जन्म लेते हैं। अतः धर्ममार्गमें स्वयं स्थित रहना और अन्य लोगोंको भी स्थिर रखना प्रत्येक क्षत्रियका कर्तव्य है। क्षत्रियको अपनी बुद्धि सब कुमार्गोंसे हटाकर सन्मार्गमें ही लगाना चाहिये। उसे यह स्मरण रखना चाहिये कि राज्या-

सनमें सुखका लेश भी नहीं है।

मानसिक निराकुलताका नाम ही सुख है, किन्तु राज्यकार्यमें मानसिक खेदकी ही वहुलता रहती है। इसके पीछे पुत्र और सहोदर भाइयोंसे भी दुश्मनी हो जाती है। सब ओरसे सदा शंकित रहना पड़ता है। अतः योग्य उत्तराधिकारीके मिलते ही क्षत्रियको राज्यासन छोड़कर परमार्थका साधन करना चाहिये। जो लोग राज्यसम्पत्तिसे जीवनभर चिपटे रहना चाहते हैं, उन्हें वह स्वयं ही लात मारकर भगा देती है और जो उससे विरक्त रहते हैं उनके पीछे लगी रहती है। किन्तु जब तक कोई सुयोग्य उत्तराधिकारी न हो राजाको प्रजाका पालन करनेका ही प्रयत्न करना चाहिये। राजाको अधिक कठोर नहीं होना चाहिये, क्योंकि कठोर दण्ड देनेवाले राजासे भी प्रजा उद्विग्न हो जाती है। उसे अपने सैनिकोंका भी सदा ध्यान रखना चाहिये, जो सैनिक घायल हो जाये उत्तम वैद्यसे उनकी चिकित्सा करानी चाहिये, और यदि वह अपंग हो जाये तो उनकी आजीविकाका प्रबन्ध कर देना चाहिये। ऐसा करनेसे सेना सन्तुष्ट रहती है। यदि कोई सैनिक अथवा अन्य राजसेवक मर जाये तो जहाँ तक संभव हो उसके स्थानपर उसके पुत्रको नियुक्त करना चाहिये। ऐसा करनेसे राजाकी कृतज्ञतासे आकृष्ट होकर उसके सैनिक तथा सेवक प्रेम-पूर्वक राजकार्य करते हैं। यदि कोई सेवक दरिद्रता या अन्य किसी कष्टसे पीड़ित हो तो उसका कष्ट दूर करना चाहिये, क्योंकि उचित आजीविकाके न होनेसे सेवकका मन सेवासे विरक्त हो जाता है। इसके सिवाय उत्तम सेवकोंको सन्मानित करते रहना भी राजाका धर्म है। जो राजा वीर पुरुषोंको उनके योग्य सत्कार-से सन्मानित करता है उसके सेवक कभी भी उसका साथ नहीं छोड़ते। अपने सेवकोंकी सुरक्षाका प्रयत्न करना भी राजाका कर्तव्य है,

यदि वह ऐसा नहीं करेगा तो राज्यविप्लव होनेपर चोर डॉकू और और अन्य राजा उन्हें पीड़ा देने लगेंगे। देशको समृद्धिशाली बनानेके लिये राजाको आलस्य छोड़कर ग्रामोंमें खूब खेती करानी चाहिये और किसानोंको अच्छा बीज वगैरह देकर उनकी सहायता करनी चाहिये। तथा उनसे करके रूपमें उचित भाग लेकर धान्यका संग्रह करना चाहिये।

राजाका कर्तव्य है कि सब प्रजाको समान समझे। यदि कोई वर्गविशेष अपनी पूज्यताके नामपर राजाको धान्यका उचित अंश न दे तो उससे पूछना चाहिए कि आपमें अन्य वर्णवालों-से क्या विशेषता है ? यदि वह केवल जातिकी अपेक्षा अपनेको औरोंसे विशिष्ट बतलावे तो उससे कहना चाहिये कि किसीकी जाति उसके माथेपर नहीं लिखी होती। अतः जातिकी अपेक्षा किसीकी विशिष्टता अनुभवमें नहीं आती। यदि वह गुणोंकी अपेक्षा अपनेको विशिष्ट बतलावे तो उससे कहना चाहिये, जो दयाहीन हैं, धर्मके नामपर पशुघात करते और कराते है, मांस और मधु खाते हैं वे चार अक्षर पढ़ लेनेसे गुणी नहीं माने जा सकते।

जहाँ तक हो राजाको युद्धसे बचना चाहिये क्योंकि युद्धमें मनुष्यों-का संहार होनेके साथ साथ अन्य भी अनेक बुराईयां हैं। उसका अन्त कभी भी अच्छा नहीं होता। अतः यदि कोई बलवान राजा राज्यपर चढ़ाई करे तो अनुभवी पुरुषोंके साथ परामर्श करके जहाँ तक उचित हो, उसके साथ सन्धि कर लेना चाहिये। किन्तु दुष्टोंका निग्रह करनेके लिये उसे सदा तत्पर रहना चाहिये; क्योंकि दुष्टोका निग्रह और शिष्टोका पालन क्षत्रियका धर्म है। जो राजा दण्डनीय शत्रु और पुत्र, दोनोंका निग्रह करता है और

किसीके साथ पक्षपात नहीं करता, वह बहुत ही लोकप्रिय होता है।

इस प्रकार सम्राट् भरतने क्षत्रियोंको भगवान्‌के द्वारा दर्शित मार्गमे नियुक्त करते हुए राजधर्मका उपदेश दिया।

---

१८ स्वयम्बरकी प्रथाका प्रचलन

उस समय काशी देशकी वाराणसी नगरीमें राजा अकम्पन राज्य करते थे। उनके एक सुलोचना नामकी पुत्री थी। एक दिन कुमारी सुलोचनाने फाल्गुन मासके अष्टान्हिका पर्वमें उपवास पूर्वक जिनेन्द्रदेवकी पूजा की और पूजाके शेषाक्षत लेकर अपने पिताके पास गई। पिता राजा अकम्पनने उठकर विनयपूर्वक उसके दिये हुये शेषाक्षतोको लेकर अपने मस्तकपर रक्खा और पुत्रीको विदा किया। उस समय अपनी कन्याको पूर्ण युवती देखकर राजाको उसके विवाहकी चिन्ता हुई। उसने अपने मन्त्रियोंको बुलाकर उनसे कहा कि हमारी कन्याके लिये सभी राजा प्रार्थी हैं अतः यह बतलाओ कि कन्या किसे दी जाय ?

एक मंत्री बोला कि चक्रवर्ती भरतके पुत्र अर्ककीर्तिको कन्या देनी चाहिये ऐसा करनेसे चक्रवर्तीके साथ अपना सम्बन्ध हो जायगा और सब राजा हमारे मित्र होंगे। यह सुनकर दूसरा मंत्री बोला—अपनेसे बड़ोंके साथ सम्बन्ध करना उचित नहीं है। इसलिये किसी अपने समकक्ष राजाके पुत्रको ही कन्या देना चाहिये ; क्योंकि बराबरीका सम्बन्ध हितकर होता है।

यह सुनकर तीसरा मंत्री बोला—भूमिगोचरियोंके साथ तो हमारा सम्बन्ध पहलेसे ही है। अब विद्याधरोंके साथ सम्बन्ध हो तो उत्तम है। सबके अन्तमें चौथा मन्त्री बोला—ये सभी

बातें शत्रुता उत्पन्न करनेवाली हैं, विद्याधरोंको कन्या देनेसे चक्रवर्तीको बड़ा बुरा लगेगा। वह सोचेगा कि क्या भूमि-गोचरियोंमें इनके योग्य कोई नहीं था। इस विषयमें सबसे अच्छा उपाय तो स्वयंबर है। कन्या स्वयंवरमें जिसे वरण करे उसे ही कन्या देनी चाहिये, ऐसा करनेसे किसीके साथ विरोध नहीं होगा और सर्वप्रथम हमारे महाराजके द्वारा इस प्रथाका प्रचलन करनेसे भगवान ऋषभदेव और सम्राट भरतके समान संसार-में इनकी प्रसिद्धि होगी।

यह सुझाव सबने पसन्द किया और स्वयंबरकी तैयारियाँ शुरू हो गईं। सब राजाओंको निमन्त्रण भेजे गये। सुलोचना-के सौन्दर्यसे आकृष्ट होकर राजागण वाराणसी नगरीमें आने लगे। राजा अकम्पनने अपने पुत्रके साथ सबकी अगवानी की और बड़े सुखसे ठहराया। आनेवालोंमें सम्राट् भरतके ज्येष्ठ पुत्र अर्ककीर्ति तथा हस्तिनापुरके राजा जयकुमार भी थे। उस समय वाराणसीकी शोभा दर्शनीय थी। जगह जगह तोरण बन्धे हुए थे, आकाशमें पताकाये फहरा रही थीं, फूलोकी वर्षा हो रही थी और नगाड़ोंकी ध्वनिसे दिशायें गूँज रहीं थी।

शुभ मुहूर्तमें कन्याने राज भवनसे प्रस्थान किया। सौभाग्य-वती स्त्रियाँ उसे घेरे हुए थीं, ज्योतिषी विद्वान साथमें थे। आगे आगे नगाड़े बजते जाते थे। विवाह मण्डपमें लाकर कन्याको सुवर्णकी चौकीपर बिठा दिया गया और विशुद्ध जलसे भरे हुए कलशोंसे उसका अभिषेक किया। फिर वस्त्राभूषण पहिनकर कन्याने चैत्यालयमे प्रवेश किया और अर्हन्त देवकी पूजा की।

इधर सब राजा स्वयम्बर मण्डपमे आकर अपने अपने आसनोंपर बैठ गये। अन्तमें राजा अकम्पन भी अपनी

रानी सुप्रभा तथा राज परिवारके साथ आकर अपने आसन-पर बैठ गये। उसी समय कंचुकीके साथ कन्याने स्वयम्वर मण्डपमें प्रवेश किया। वह एक सजे हुए रथमें बैठी थी और उसका बड़ा भाई हेमांगद अपने छोटे भाइयों सहित समस्त सेना-के साथ रथको चारों ओरसे घेरे हुए था। कंचुकीने विद्याधर राजाओंकी ओर रथ बढ़ाया और सबका परिचय देने लगा। धीरे धीरे आगे बढ़ता हुआ रथ विद्याधरोंको लाँघकर भूमि-गोचरियोंकी ओर पहुँचा। कचुकी नाम ले लेकर प्रत्येक राजा-का परिचय कराता जाता था।

जैसे वसन्तऋतुमें कोयल सब वृक्षोंको छोड़कर आमके पास पहुँचती है वैसे ही सुलोचना भी अर्ककीर्ति आदिको छोड़ती हुई जयकुमारके पास पहुँची। चतुर कंचुकीने कन्याके मनोभावोंको जानकर तुरन्त ही रथको रोका और वह जयकुमारके गुणोंका वर्णन करने लगा—'यह महाराज सोमप्रभके पुत्र जयकुमार हैं। इन्होंने उत्तर भरतक्षेत्रमें मेघकुमारोंको जीतकर सिंहनाद किया था। तब चक्रवर्ती भरतने इनकी वीरतासे प्रसन्न होकर अपना वीरपट्ट इन्हे बांधा था और मेघेश्वर नाम रक्खा था।

जयकुमारकी सुन्दर आकृति और गुणोंसे आकृष्ट होकर सुलोचना रथसे नीचे उतरी और उसने कंचुकीके हाथसे वरमाल लेकर जयकुमारके गलेमें डाल दी। तुरन्त ही बाजोंकी मधुर ध्वनि सुनकर अन्य राजाओंके मुख मलिन हो गये। राजा अकम्पनने अपनी पुत्री तथा जयकुमारको आगे करके नगरमें प्रवेश किया।

राजकुमार अर्ककीर्तिके एक अनुचरको जयकुमारका यह उत्कर्ष सह्य नहीं हुआ। अतः वह सब राजाओंको भड़काता हुआ बोला—

यह अकम्पन बड़ा दुष्ट है इसने आप लोगोंको व्यर्थ ही कष्ट दिया। आप लोगोंका अपमान करनेके लिए ही उसने यह ढंग रचा है और पहलेसे तय करके ही जयकुमारके गलेमें वरमाला डलवाई है।

अन्य राजाओंको उत्तेजितकर वह अनुचर अपने स्वामी अर्ककीर्तिके पास पहुंचा और बोला—छहों खण्डोंमें उत्पन्न हुए रत्नोंके दो ही स्वामी हैं। एक तुम और दूसरे तुम्हारे पिता। सब रत्नोंमे कन्यारत्न ही श्रेष्ठ होता है और उसमे भी सुलोचना श्रेष्ठ है। अकम्पन बड़ा दुष्ट है। उसने तुम्हें अपने घर बुलाकर तुम्हारा अपमान किया है। कहाँ बेचारा जयकुमार और कहाँ एक चक्र-वर्तीका पुत्र। मैं इस अपमानको सहन नहीं कर सकता। जब साधारण प्राणी भी मानभंगको सहन नहीं कर सकते तब भला आप जैसे तेजस्वी पुरुष स्त्रीके कारण हुए मानभंगको कैसे सहन कर सकते हैं? अतः मुझे आज्ञा दीजिये। आपकी आज्ञा पाते ही अकंपनको यमराजके घर भेजकर कन्याको वरमालाके साथ लेकर आता हूँ।'

इस पराजयसे अर्ककीर्ति बहुत लज्जित था। अतः अनुचरकी बातें सुनते ही वह क्रोधसे भड़क उठा और जलते हुए स्फुलिंगोंके समान वचन उगलने लगा—जिस दुष्टने यह कन्या देकर मेरा अपमान किया है उसकी मृत्यु आ पहुंची है। मूर्ख अकम्पन नामका ही अकम्पन है। वह नहीं जानता कि मेरे क्रुद्ध होनेपर यह पृथिवी कंपने लगती है। आज सोमवंश और नाथवंशरूपी अटवी मेरे क्रोधरूप अग्निसे जलकर भस्म हो जायेगी। उस समय मेरे पिताने जयकुमारके जो वीरपट्ट बाँधा था उसे तो मैंने उनके भयसे सह लिया था किन्तु आजके इस अपमानको मैं सहन नहीं

कर सकता। आज मैं जयकुमारको युद्धमें दिखा दूँगा कि वह कैसा वीर है ?

चक्रवर्तीपुत्रको मर्यादाका उल्लंघन करते देख मंत्री चुप नहीं रह सका। वह बोला—तुम्हारे पितामह भगवान् ऋषभदेवके द्वारा सौंपी हुई इस पृथिवीका पालन तुम्हारे पिता भरत महाराज कर रहे हैं। उनके बाद तुम इसका पालन करोगे। अतः इस पृथिवीमें यदि किसीकी भी कुछ हानि होती है तो उसे अपनी ही हानि मानकर तुम्हे उसको दूर करनेका प्रयत्न करना चाहिये। जो क्षतसे रक्षा करे उसे क्षत्र कहते हैं। वर्तमानमें भरतेश सबकी रक्षा करते हैं इसलिये क्षत्र हैं। तुम उनके बड़े पुत्र हो इसलिए तुम सबसे बड़े क्षत्रिय हो। जब एक कन्याकी मांग अनेक पुरुष करने लगते हैं तो उस समय परस्परके विरोधको दूर करनेके लिए विद्वानोंने इस सर्वश्रेष्ठ स्वयंवरविधिका विधान किया है। कुलीन पुरुषोंमेंसे किसी एक पुरुषको कन्या अपनी इच्छानुसार वरण करती है। चाहे वह पुरुष कुरूप हो या सुरूप, गुणी हो अथवा निर्गुण, धनवान हो अथवा दरिद्र। अन्य लोगोंको इसमें आपत्ति नहीं करनी चाहिये। यही न्याय है। यदि कोई इस नियमका उल्लंघन करे तो तुम्हे उसको रोकना चाहिये। इसलिये तुम जो कुछ करना चाहते हो वह तुम्हारे लिये उचित नहीं है। तुम्हारे पिता राजा अकंपनको भगवान ऋषभदेवके समान मानते हैं। अतः तुम्हें भी उनके प्रति नम्र व्यवहार करना चाहिए। तथा दिग्विजयके समय जयकुमारने जो पौरुष दिखलाया था वह भी तुम्हें याद रखना चाहिये। जिस योद्धामें शूरवीरपनकी सम्भावना हो राजाको उसका सन्मान करना चाहिये। फिर जिसका पराक्रम देखा जा चुका है उसकी तो बात ही क्या है। आगे चलकर जब बिना चक्र और रत्नोंकी

सहायताके तुम इस पृथिवीका पालन करोगे तब जयकुमारसे ही तुम्हारे कार्य सिद्ध होंगे। अतः राज्यलक्ष्मीकी साक्षात् भुजाओंके समान सोमवंश और नाथवंशका उच्छेद करना तुम्हारे लिये ही हानिकर है। आज तुम्हें तीनों पुरुषार्थ प्राप्त हैं। अब न्यायमार्गका उल्लंघन करके क्यों उन्हें नष्ट करनेपर उतर आये हो। यही जय-कुमार दिग्विजयके समय तुम्हारे पिताका सेनापति था। उससे युद्ध करके क्यों अपनी जयलक्ष्मीको संशयमें डालते हो। यह निश्चित है कि जबरदस्ती हरी जाकर भी कन्या तुम्हारी नहीं होगी फिर क्यों व्यर्थ परस्त्रीकी अभिलाषा करके अपनी कीर्तिको मलिन करते हो? सुलोचनाके सिवाय अन्य भी बहुतसे कन्यारत्न हैं, उन सभी कन्याओंको मैं तुम्हारे लिए लाये देता हूँ।'

बुद्धिमान मंत्रीके युक्तिपूर्ण वचनोंका दुर्बुद्धि अर्ककीर्तिपर उल्टा ही प्रभाव हुआ। वह कहने लगा—राजा अकम्पन मेरे मान्य हैं यह मैं मानता हूँ। किन्तु उन्होंने पहलेसे ही जयकुमारको कन्या देना स्थिर करके जो यह नाटक रचा है, इसका निराकरण यदि मैं नहीं करूँगा तो फिर कल्पकालतक भी निराकरण नहीं हो सकेगा। इस अन्यायका निराकरण करनेसे चक्रवर्ती भी मुझसे अप्र-सन्न नहीं होंगे बल्कि प्रसन्न ही होंगे, क्योंकि वे अन्यायको पसन्द नहीं करते। फिर यह जयकुमार बड़ा अभिमानी हो गया है। सभी राजा इससे असन्तुष्ट हैं। अतः इसका मानमर्दन करके मैं सब राजाओंका प्रेमभाजन भी बनूँगा। मैं सुलोचनाको नहीं चाहता; क्योंकि वह तो जयकुमारके मारे जानेपर विधवा हो जायेगी, मुझे तब उससे क्या प्रयोजन रह जायेगा? अतः ऐसा करनेसे मेरी अपकीर्ति नहीं होगी बल्कि इस अन्यायका प्रतिकार नहीं करनेसे ही अपकीर्ति होगी। अतः आप चुप बैठें।

मंत्रीको यह उत्तर देकर अर्ककीर्तिने अपने सेनापतिको

बुलवाया और युद्धका निश्चय करके रणभेरी बजवा दी। जब महाराज अकम्पनको यह बात ज्ञात हुई तो वे बहुत घबराये। उन्होंने अपने मंत्रियों तथा जयकुमारसे परामर्श करके अर्ककीर्तिके पास दूत भेजा। किन्तु दूत निराश होकर लौट आया। भावि आशंकाने अकम्पनको विचलित कर दिया। तब जयकुमारने उन्हें समझाया और कहा कि चिन्ताकी कोई बात नहीं है। न्यायका उल्लंघन उसी ओरसे हुआ है। अतः आप चिंता छोड़कर सुलोचनाकी रक्षा करें। मैं अभी अर्ककीर्तिको बन्दरकी तरह बाँधकर लाता हूँ। यह कहकर जयकुमार अपनी सेनाके साथ युद्ध करने चल दिये। उन्हें जाता देखकर राजा अकम्पन भी सुलोचनाको उसकी माताके पास छोड़कर युद्ध करने निकल पड़े। दोनों ओरकी सेनाओंमें बहुत समयतक घमासान युद्ध हुआ किन्तु कोई किसीको जीत नहीं सका। तब जयकुमारने अपना हाथी अर्ककीर्तिकी ओर बढ़ाया और उससे कहा—कुमार! बुद्धिमान होकर भी आप यह कैसा अकृत्य कर रहे हैं? कुछ दुष्ट पुरुषोंने आपका मन खराब कर दिया है जिससे भरत महाराजकी सेनाका व्यर्थ क्षय हो रहा है। हमारा और आपका युद्ध आज ही बन्द हो जाना चाहिये। आपके इस अन्यायसे आपकी अपकीर्ति होगी और भरतेश्वरको भी सुनकर खेद होगा।

किन्तु अर्ककीर्तिने एक नहीं सुनी। तब जयकुमारने युद्धकी इच्छासे अर्ककीर्तिकी सेनाको चारों ओरसे घेर लिया। इतनेमें ही दिन अस्त हो गया। तब दोनों सेनाओंके मंत्रियोंने रात्रिमें युद्ध करना अधर्म बतलाकर उन्हें युद्ध करनेसे विरत किया।

दूसरे दिन फिर घमासान युद्ध हुआ। आज जयकुमारने अर्ककीर्तिके ऊपर देवदत्त बाणका प्रयोग किया। उससे अर्ककीर्ति-का रथ नष्ट हो गया, सारथी मारा गया और वह निरस्त्र खड़ा

रह गया। यह देख जयकुमारने उसे तुरन्त पकड़कर अपने रथ-में डाल लिया। अर्ककीर्तिके पकड़े जाते ही सेना भाग खड़ी हुई और युद्ध शान्त हो गया। युद्धके पश्चात् बुद्धिमान राजा अकम्पन-ने जयकुमार और अर्ककीर्तिमे मेल करा दिया और अर्ककीर्तिके साथ अपनी छोटी पुत्रीको विवाहकर उन्हे सम्मान सहित बिदा किया। तथा बहुत सी भेंट देकर एक चतुर दूतको चक्रवर्तीके पास भेजा और उससे कह दिया कि चक्रवर्तीसे यहॉके सब समाचार कहकर ऐसा प्रयत्न करना जिससे चक्रवर्ती हम लोगों-पर अप्रसन्न न हों।

दूतने अयोध्या पहुँचकर महाराज भरतको प्रणाम किया और भेंट देकर सब समाचार कहे तथा अकम्पनकी ओरसे अपने अपराधकी क्षमा प्रार्थना की। चक्रवर्तीने दूतको सादर बुलाकर अपने पास बैठाया और कहा—महाराज अकम्पनने तुम्हे भेजकर इस प्रकार क्यो कहलाया है? वे तो हमारे पिता-के तुल्य हैं। यदि मैं भी अन्याय करूँ तो उन्हे मुझे भी रोकनेका अधिकार है। मुझे यह चक्रवर्ती पद न तो चक्ररत्नसे मिला है, न सेनासे मिला है और न पुत्रोंसे मिला है। यह मुझे केवल जयकुमारसे मिला है। उसीने म्लेच्छ राजाओंको जीतकर पर्वत-पर मेरी कीर्ति अंकित की है। अर्ककीर्तिने तो मेरी उस कीर्ति-पर कालिमा पोती है। वह अर्ककीर्ति नहीं है बल्कि साक्षात् अयशकीर्ति ही है। आप लोगोंने उस घमण्डीको कन्या देकर बहुत बुरा किया। लोग कहेगे कि चक्रवर्तीने अपराध करनेपर भी अपने पुत्रको दण्ड नहीं दिया। महाराज अकम्पनने मेरे इस अपयशको स्थायी बना दिया।

महाराज भरतकी न्यायपूर्ण बाते सुनकर दूतका मुख खिल उठा। उसने पृथ्वीपर लेटकर चक्रवर्तीको प्रणाम किया और

वहाँसे शीघ्र वाराणसी पहुँचकर अपने स्वामीसे सब निवेदन किया। चक्रवर्तीके कोपसे भयभीत राजा अकम्पन और जयकुमारके मुख इस सुसंवादसे कमलकी तरह खिल उठे। दोनोंने दूतको दान सन्मान देकर विदा किया।

—※—
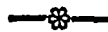
१९ भगवान ऋषभदेवका निर्वाण

भगवान ऋषभदेव अपने चौरासी गणधरोंके साथ मोक्ष मार्गका उपदेश देते हुए विहार करते थे। उनके संघमे चौरासी हजार मुनिराज थे, साढ़े तीन लाख आर्यिका थीं, तीन लाख श्रावक थे और पाँच लाख श्राविकायें थीं। भगवानकी आयु क्रमशः क्षीण होती जाती थी और शारीरिक बन्धनसे भी मुक्तिका समय निकट आता जाता था। जब केवल चौदह दिनकी आयु शेष रह गई तो भगवान कैलास पर्वतपर जाकर विराजमान हो गये।

उसी दिन महाराज भरतने स्वप्न देखा कि सुमेरु पर्वत बढ़ता बढ़ता सिद्धि क्षेत्रतक पहुँच गया है। युवराज अर्ककीर्तिने देखा कि स्वर्गसे एक महौषधिका वृक्ष आया और मनुष्योंके जन्म-मरण रूपी रोगको दूर करके स्वर्गको चला गया। चक्रवर्तीके गृहपतिने स्वप्न देखा कि एक कल्पवृक्ष मनुष्योंको उनकी इच्छानुसार दान देकर स्वर्ग जानेके लिये तैयार है। सेनापतिने स्वप्न देखा कि एक सिंह पिंजरेको तोड़कर कैलाश पर्वतको लाँघना चाहता है। जयकुमारके पुत्रने स्वप्न देखा कि तीनों लोकोंको प्रकाशितकर चन्द्रमा ताराओंके साथ जा रहा है।

चक्रवर्तीकी पटरानी सुभद्राने स्वप्न देखा कि इन्द्राणी यशस्वती और सुनन्दाके साथ शोकमग्न बैठी है। अकम्पनके पुत्र चित्रांगदने स्वप्न देखा कि पृथ्वीको प्रकाशितकर सूर्य ऊपरकी ओर उड़ा जाता है। इस प्रकार उसी रात्रिमें सब लोगोंने स्वप्न देखे और सूर्योदय होते ही राज्य पुरोहितसे उनका फल पूछा। पुरोहितने कहा कि ये स्वप्न भगवान ऋषभदेवके मोक्ष गमनके सूचक हैं।

पुरोहित स्वप्नोंका फल कह रहे थे कि इतनेमें ही एक मनुष्य भगवानका समाचार लेकर आया। उसने कहा कि भगवान मौन हैं और सम्पूर्ण सभा हाथ जोड़कर बैठी हुई है। यह सुनते ही भरत चक्रवर्ती सब लोगोंके साथ कैलास पर्वतपर पहुँचे और भगवानको नमस्कारकर उनकी स्तुति करने लगे। जब स्तुति कर चुके तो श्रोताओंको भगवानकी दिव्यध्वनि सुनाई पड़ी—तुम लोग भक्तिमान हो, निकट भव्य हो, आगमको जानते हो। दोष, दुःख, बुढ़ापा और मृत्यु आदि पापोंसे भरे हुए इस संसारको छोड़नेका प्रयत्न करो। और गृहस्थाश्रम छोड़कर गुप्ति, समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परीषह जय और चारित्रका अच्छी तरह अभ्यास करो। ये ही तुम्हें इस संसारसे छुड़ा सकते हैं। जो लोग गृहस्थाश्रम न छोड़ सकें वे गृहस्थाश्रममें रहते हुए ही सन्तोषपूर्वक जीवनयापन करें। उतना ही आरम्भ करें जितना स्वयं कर सकते हों, उतना ही परिग्रह रक्खें जितना परिवारके निर्वाहके लिए आवश्यक हो। दानी बनो, शीलवान बनो और इन्द्रियोंपर अंकुश रखकर इन्द्रियजयी बनो। दासता बुरी है, चाहे वह किसी व्यक्तिकी हो, या अपने शरीर और इन्द्रियोंकी हो। आत्म कल्याण ही उपादेय है और सब हेय है।'

यह भगवानका अन्तिम सन्देश था। सभी श्रोता चातककी तरह इन अमृतकी बूँदोंका पान कर रहे थे। सहसा दिव्यध्वनिके

बन्द हो जानेसे सब देखते रह गये। इसके पश्चात् भगवान ध्यानस्थ हो गये। महाराज भरत चौदह दिन तक दिनरात भगवानकी सेवामे रत रहे।

माघ कृष्ण चतुर्दशीके दिन सूर्योदयके समय अनेक मुनियोंके साथ भगवान् पर्यङ्कासनसे विराजमान हुए और उन्होंने सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाती नामके तीसरे शुक्ल ध्यानसे मनोयोग, वचनयोग और काययोगका निरोध करके चौदहवें गुणस्थानमें प्रवेश किया। तथा व्युपरतक्रियानिवर्ति नामक चौथे शुक्ल ध्यानसे अघाति कर्मोंको नाशकर सब बन्धनोंसे मुक्त हो गये। मुक्त होते ही सम्यक्त्व आदि आठ गुणोंसे प्रकाशमान शुद्ध आत्मा शरीरमेंसे निकलकर लोकके अग्रभागमें जाकर सिद्धालयमें विराजमान हो गया।

तत्काल ही मोक्ष कल्याणककी पूजा करनेके लिये सुर नर एकत्र हुए और उन्होंने भगवानके शरीरका अग्नि संस्कार किया।

भगवानके वियोगसे महाराज भरतको बहुत शोक हुआ। तब भगवान्के प्रमुख गणधर वृषभसेन उन्हें समझाने लगे—भरतेश्वर! इस संसारमें सभी प्राणियोंको इष्ट-अनिष्ट वस्तुओंका समागम होता है और अन्तमें नाश हो जाता है। यह सब जानते हुए भी तुम खेदखिन्न क्यो होते हो? भगवान ऋषभदेव तो आठों कर्मोंको नष्टकर उस मोक्ष स्थानको प्राप्त हुए हैं, जहाँ न रोग है न शोक है, न जन्म है, न मृत्यु है, न बुढ़ापा है, न दुःख है. केवल सुख ही सुख है। फिर विषाद क्यो? इष्ट मित्रोंकी मृत्युसे दुःख हो सकता है, क्योंकि उन्हे पुनः जन्म लेना पड़ता है। परन्तु जिसने मृत्युको ही नष्ट करके नित्य निर्विकार शाश्वत जीवन पा लिया, उसके लिये कौन इष्ट बन्धु शोक मनायेगा? तुम सोचते होगे कि अब मुझे उनके दर्शनोंका सौभाग्य

प्राप्त नहीं होगा, उनके दिव्य वचन सुननेको नहीं मिलेंगे, उनके चरणोंमें अपना मस्तक झुकाकर मैं सौभाग्यशाली नहीं हो सकूँगा। ऐसा तुम्हारा सोचना यद्यपि उचित है परन्तु जो बात अब सम्भव नहीं, उसके लिए शोक करना व्यर्थ है। जो भगवान पहले आँखोंसे दिखाई देते थे वे अब हमारे हृदयमें विद्यमान हैं, उन्हें अपने चित्तमें तुम सदा देख सकते हो, फिर शोककी बात ही कौन सी है? तुम तो संसारका स्वरूप जानते हो। क्या तुम यह नहीं जानते कि अनन्त कालसे भ्रमण करते रहनेके कारण इस जीवके असंख्य सम्बन्धी हो चुके है, फिर क्यों अज्ञानीकी तरह व्यर्थ मोहमें पड़े हो?

गणधरके वचनामृतसे भरतकी शोकाग्नि शान्त हो गई। उन्होने गणधरदेवको नमस्कार किया और अपनी भोग तृष्णाकी निन्दा करते हुए नगरको लौट आये। किन्तु अब उनका मोह दूर हो गया था और मनमें आत्महित करनेकी तीव्र भावना जाग्रत हो चुकी थी। अतः उनका चित्त राज्यसे उदासीन हो गया और उन्होंने अर्ककीर्तिको राज्यभार सौंपकर जिनदीक्षा ले ली। दीक्षा लेनेके बाद-ही उन्हे केवलज्ञान प्राप्त हो गया। पहले वे छै खण्डके ही स्वामी थे और उनके अधीन राजालोग ही उनकी पूजा करते थे। अब वे तीनों लोकोंके स्वामी हो गये और सुरनर उनके पूजक हो गये।
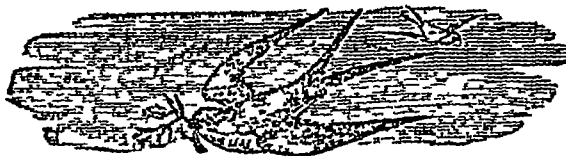
श्रीमद्भागवतमें ऋषभचरित

भगवान-ऋषभदेव जैनधर्मके प्रथम तीर्थङ्कर तथा संस्थापक थे। प्रसिद्ध हिन्दू धर्मग्रन्थ श्रीमद्भागवतके पाँचवे स्कन्धके अध्याय २-६ में भी उनका सुन्दर चरित कहा है, जो जैन साहित्यके वर्णन-मे कुछ अंशमे मिलता हुआ है। उसमें लिखा है—जब ब्रह्माने देखा कि मनुष्य संख्या नहीं बढ़ी तो उसने स्वयंभु मनु और सत्यरूपाको उत्पन्न किया। उनसे प्रियव्रत नामका पुत्र हुआ। प्रियव्रतका पुत्र अग्नीध्र हुआ। अग्नीध्रके घर नाभिने जन्म लिया। नाभिने मरुदेवीसे विवाह किया और उनसे ऋषभदेव उत्पन्न हुए।

ऋषभदेवने इन्द्रके द्वारा प्राप्त जयन्ती नामकी भार्यामे सौ पुत्र उत्पन्न किये और बड़े पुत्र भरतका राज्याभिषेक करके संन्यास ले लिया। उस समय केवल शरीरमात्र उनके पास था और वे दिगम्बर वेषसे नग्न विचरण करते थे, मौनसे रहते थे, कोई डराये, मारे, ऊपर थूके, पत्थर फेंके, मूत्रविष्ठा फेके तो इन सबकी ओर ध्यान नहीं देते थे। यह शरीर असत् पदार्थोंका घर है, ऐसा समझकर अहंकार ममकारका त्याग करके अकेले भ्रमण करते थे। उनका कामदेवके समान सुन्दर शरीर मलिन हो गया था। उनका क्रियाकर्म बड़ा भयानक था। शरीरादिकका सुख छोड़कर उन्होंने 'आजगर' व्रत ले लिया था।

इस प्रकार कैवल्यपति भगवान-ऋषभदेव निरन्तर परम आनन्दका अनुभव करते हुए भ्रमण करते-करते कौंक, वेंक, कुटक, दक्षिण कर्नाटक देशोंमे अपनी इच्छासे पहुँचे और कुटका-चल पर्वतके उपवनमें उन्मत्तकी नाईं नग्न विचरण करने लगे। जंगलमें बाँसोंकी रगड़से अचानक आग लग गई और उन्होंने उसीमे प्रवेश करके अपनेको भस्म कर दिया।

इस तरह ऋषभदेवका चरित कहकर भागवतकारने आगे लिखा है—इन ऋषभदेवके चरितको सुनकर कोंक वेंक कुटक देशोंका राजा अर्हन् उन्हींके उपदेशको लेकर कलियुगमें जब अधर्म बहुत हो जायेगा तब स्वधर्मको छोड़कर कुपथ पाखण्ड (जैनधर्म) का प्रवर्तन करेगा। तुच्छ मनुष्य मायासे विमोहित होकर शौच आचारको छोड़कर ईश्वरकी अवज्ञा करनेवाले व्रत धारण करेंगे। न स्नान, न आचमन, ब्रह्म ब्राह्मण यज्ञ सबके निन्दक, ऐसे पुरुष होंगे और वेद विरुद्ध आचरण करके नरकमें गिरेंगे। यह ऋषभावतार रजोगुणसे व्याप्त मनुष्योंको मोक्षमार्ग सिखलानेके लिए हुआ।

श्री मद्भागवतके उक्त कथनमेंसे यदि उस अंशको निकाल दिया जाये, जो धार्मिक विरोधके कारण लिखा गया है तो उससे यह स्पष्ट है कि ऋषभदेव ही जैनधर्मके आद्यउपदेष्टा थे; क्योंकि जैन तीर्थङ्कर केवलज्ञान प्राप्त होनेपर 'जिन' 'अर्हन्' आदि नामोंसे पुकारे जाते हैं, और उसी अवस्थामें वे धर्मोपदेश करते हैं, जो उनकी उस अवस्थाके नामपर जैनधर्म या आर्हत् धर्म कहा जाता है। दक्षिणमें जैनधर्मका एक समय बहुत प्रचार था। इसीसे भागवतकारने उक्त कल्पना की प्रतीत होती है। यदि वे सीधे ऋषभदेवसे ही जैनधर्मकी उत्पत्ति बतला देते तो फिर वे जैनधर्मको बुरा नहीं बतला सकते थे। अस्तु,

श्री मद्भागवतमें ऋषभदेवजीने अपने पुत्रोंको जो उपदेश दिया है वह भी अनेक अंशोंमें जैनधर्मके अनुकूल ही है। उसका सार इस प्रकार है—

१ हे पुत्रों! मनुष्य लोकमें शरीरधारियोंके बीचमें यह शरीर कष्टदायक है, भोगने योग्य नहीं है। अतः दिव्य तप करो, जिससे अनन्त सुखकी प्राप्ति होती है।

जो कोई मेरेसे प्रीति करता है, विषयीजनोसे, स्त्रीसे, पुत्रसे और मित्रसे प्रीति नहीं करता, तथा लोकमे प्रयोजन मात्र आसक्ति करता है वह समदर्शी प्रशान्त और साधु है।

३ जो इन्द्रियोंकी तृप्तिके लिए परिश्रम करता है उसे हम अच्छा नहीं मानते, क्योंकि यह शरीर भी आत्माको क्लेशदायी है।

४ जब तक साधु आत्म तत्त्वको नहीं जानता तब तक वह अज्ञानी है। जब तक यह जीव कर्मकाण्ड करता रहता है तब तक सब कर्मोंका शरीर और मन द्वारा आत्मासे बन्ध होता रहता है।

५ गुणोंके अनुसार चेष्टा न होनेसे विद्वान् प्रमादी हो, अज्ञानी बनकर मैथुन सुख प्रधान घरमें बसकर अनेक संतापोको प्राप्त होता है।

६ पुरुषका स्त्रीके प्रति जो कामभाव है यही हृदयकी ग्रन्थि है। इसीसे जीवको घर, खेत, पुत्र कुटुम्ब और धनसे मोह होता है।

७ जब हृदयकी ग्रन्थिको बनाये रखनेवाले मनका बंधन शिथिल हो जाता है तब यह जीव संसारसे छूटता है और मुक्त होकर परलोकको प्राप्त होता है।

८ जब सार-असारका भेद करानेवाली व अज्ञानान्धकारका नाश करनेवाली मेरी भक्ति करता है और तृष्णा, सुख दुःखका त्यागकर तत्त्वको जाननेकी इच्छा करता है, तथा तपके द्वारा सब प्रकारकी चेष्टाओंकी निवृत्ति करता है, तब मुक्त होता है।

९ जीवोंको जो विषयोंकी चाह है यह चाह ही अन्धकूपके समान नरकमें जीवको पटकती है।

१० अत्यन्त कामनावाला तथा नष्ट दृष्टिवाला यह जगत अपने कल्याणके हेतुओंको नहीं जानता है।

११ जो कुबुद्धि सुमार्ग छोड़ कुमार्गमे चलता है उसे दयालु विद्वान् कुमार्गमें कभी भी नहीं चलने देता।

१२ हे पुत्रों! सब स्थावर जंगम जीवमात्रको मेरे ही समान समझकर भावना करना योग्य है। ये सभी उपदेश जैन-धर्मके अनुकूल हैं। इनमें नम्बर चारका उपदेश तो विशेष ध्यान देने योग्य है जो कर्मकाण्डको बन्धका कारण बतलाता है। जैनधर्मके अनुसार मन, बचन और कायका निरोध किये बिना कर्मबन्धनसे छुटकार नहीं मिल सकता। शरीर-के प्रति निर्ममत्व होना, तत्त्वज्ञानपूर्वक तप करना, जीव-मात्रको अपने समान समझना, कामवासनाके फन्देमें न फँसना ये सब जैनधर्म ही है।

हिन्दू धर्मकी यह विशेषता रही है कि उसने अपने अवतारों-में अन्य भारतीय धर्मोंके पूज्य पुरुषोंको भी सम्मिलित कर लिया है। अतः जैनधर्मके प्रथम तीर्थङ्कर भगवान-ऋषभदेव भी उसके आठवें अवतार माने गये हैं। तथा वे प्रथम सतयुगके अन्तमें हुए हैं।

भगवान ऋषभदेवके प्रथम जैन तीर्थङ्कर होनेके सम्वन्धमें प्राचीन शिलालेख तथा लोकमत

मथुराके जैन शिलालेखोंसे भी प्राचीन और महत्त्वपूर्ण शिलालेख खण्डगिरि उदयगिरि (उडीसा) की हाथी गुफासे प्राप्त हुआ है, जो जैन सम्राट् खारवेलका है। इस २१०० वर्ष प्राचीन शिलालेखसे यह प्रकट हुआ है कि पुष्यमित्रका पूर्वाधिकारी मगधाधिपति नन्द कलिंग जीतकर अग्रजिन (भगवान ऋषभदेव)की मूर्ति जयचिन्हके रूपमें ले गया था। यह मूर्ति कलिंग राजवंशकी बहुमूल्य स्थावर सम्पत्ति थी। वह मूर्ति खारवेलने नन्द राजाके तीन सौ वर्ष वाद पुष्यमित्रसे प्राप्त की।

यदि जैन धर्मका आरम्भ भगवान महावीर या भगवान पार्श्वनाथने किया होता तो उनके कुछ ही समय बाद या उनके समयमें प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेवकी मूर्तियाँ नहीं पाई जानी चाहिये थीं। अतः जब प्राचीन जैन शिलालेखोंमें आदि तीर्थङ्कर भगवान ऋषभदेवकी मूर्तिका प्रामाणिक उल्लेख है तो मानना पडता है कि ऋषभदेवके प्रथम जैन तीर्थङ्कर होनेकी मान्यतामें अवश्य तथ्य है। इस बातको स्व० जर्मन विद्वान् याकोवी, स्व० लोकमान्य वाल गंगाधर तिलक तथा डा०, सर राधाकृष्णन् जैसे मनीषियोंने भी स्वीकार किया है। डा० राधाकृष्णन् लिखते हैं—

'जैन परम्परा ऋषभदेवसे अपने धर्मकी उत्पत्ति होनेका कथन करती है, जो बहुत सी शताब्दियों पूर्व हुए हैं। इस बातके प्रमाण पाये जाते हैं कि ईस्वी पूर्व प्रथम शताब्दीमें प्रथम तीर्थंङ्कर ऋषभदेवकी पूजा होती थी। इसमें कोई सन्देह नहीं है कि जैनधर्म वर्धमान और पार्श्वनाथसे भी पहले प्रचलित था। यजुर्वेदमें ऋषभदेव, अजितनाथ और अरिष्ट नेमि इन तीन तीर्थंङ्करोंके नामोंका निर्देश है। भागवत पुराण भी इस बातका समर्थन करता है कि ऋषभदेव जैनधर्मके संस्थापक थे।'